काव्य-कलना

लेखक

पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग।

प्रथम संस्करण 1100 | अप्रैल १९३८ | मूल्य १) सजिल्द १।)

प्रकाशक

श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक—

श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा

नागरी प्रेस, दारागंज,

प्रयाग।

निवेदन

मेरे आलोचनात्मक निबन्धों का यह संग्रह आपके सन्मुख है, इसके विषय में मुझे कुछ कहना नहीं। हाँ, इसमें बहुत से कवि, महाकवि छूट गये हैं; इससे उनके प्रति मेरा कोई विराग नहीं वरन् अपनी अक्षमता है।

इसमें आये हुए कवियों के प्रति मेरे जो भी विचार हैं, मेरा विश्वास है कि वे प्रतिभा, क्रम और स्थान—सभी तरह से मेरी उनके प्रति सत्य-धारणा के अनुरूप हैं। यदि साहित्यानुरागियों को 'काव्य-कलना' से कुछ भी काव्यानन्द मिल सका तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।

—लेखक

विषय-सूची

काव्य-कलना

अपना
दृष्टिकोण

कवि का आदर्श

इस समय पाश्चात्य देशों के सम्पर्क-स्वरूप हमारे भारतीय युवकों में एक नवीन भावना का उदय हुआ है, और जिधर देखो उधर 'कला कला के लिए' की पुकार मची हुई है। उनका कहना है कि "कला को उपयोगी बनाना उसके सौन्दर्य्य को कम कर देना है, कला का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ गुण सुन्दरता होना चाहिए।" यदि हम इसको ठीक भी मान लें तो भी प्रश्न यह उठता है कि सुन्दर का अर्थ क्या है। यह सभी को मालूम है कि सुन्दर वस्तु सदैव आनन्ददायिनी होती है और उससे किसी रूप में किसी का अहित नहीं होता। बस, यदि इसी सुन्दरता का स्थान काव्य में सर्व-प्रथम हो तो शायद किसी को कुछ आपत्ति न होगी। किन्तु यदि मानव-प्रकृति का विचार न करके और उसकी कल्याण-भावना का भी ध्यान न रखके हम केवल अपने मन की गढ़ी सुन्दरता के लिए कुछ लिखें तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है, क्योंकि हम देखते हैं कि बहुत सी ऐसी वस्तुएँ इस संसार में मिलती हैं जो देखने में बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक होती हैं, पर उनका उपयोग बहुत ही हानिप्रद सिद्ध होता है। ऐसा अनुभव प्रायः सभी अपने जीवन में करते हैं।

अब हम इस निश्चय पर पहुँचे कि केवल सुन्दरता का उपासक होना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि हमें सुन्दरता के साथ-साथ उसमें

कल्याण-भावना भी देखना चाहिए, तभी हमारी सुन्दरता एक सुसंस्कृत रुचि की सुन्दरता कही जा सकती है। हमारा साहित्य केवल मन बहलाव की चीज़ नहीं है, इसका उद्देश्य कुछ और भी है जिसको भूल जाने से हम एक ऐसा अनर्थ कर बैठेंगे जिसका प्रायश्चित्त करते-करते कई शताब्दियाँ बीत जायँगी। विशेषकर कवि को तो यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसकी कविता में लोक-हित की भावना का लोप न होने पावे। यह सभी को ज्ञात है कि पद्य श्रवण-सुखद और स्मरण में सुगम होने के कारण जन-साधारण से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक को याद हो जाते हैं और वे उन पद्यों का अपने जीवन के भिन्न-भिन्न अवसरों पर उपयोग करते हैं और उनसे सामयिक सहायता प्राप्त करते हैं। मैं नहीं समझता कि किसी हिन्दू का जीवन ऐसा होगा जिसकी तुलसीदास जी ने कभी अपने ललित पदों से सहायता न की हो। बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष सबके साथ उनके सुख-दुख में, हँसी-खुशी में, आमोद-प्रमोद में किसी न किसी रूप में हमें तुलसीदास अवश्य मिल जाते हैं। इसका कारण केवल उनके काव्य की लोक-हित-भावना ही है। उनके काव्य का यही शिव-रूप उनको आज भी इतना आदरणीय बनाता है।

कविता में सत्य तो अपने आप आ जाता है, क्योंकि कविता हृदय की वस्तु है और कवि अपने हृदय की भाषा में ही कविता करता है, इसलिए वह सत्य के अति निकट रहता है। अस्तु, कवि अपनी कविता द्वारा सत्य का ही प्रचार करता है—यह सत्य है।

इस उपर्युक्त विश्लेषण से पता चलता है कि काव्य की पूर्णता सुन्दरता से नहीं वरन् शिवं और सत्य से है। केवल सुन्दर शब्दों के जाल को ही कविता नहीं कहते। कविता का उद्देश्य संसार को एक सन्देश देने का है जिसे पढ़कर लोग निराशा में आशा, एकान्त में ज्ञान, भय में धैर्य धारण करें और उसकी सहायता से अपने जीवन-युद्ध में सफलता प्राप्त कर सुखी और प्रसन्न हों।

कवि-कर्म सहज नहीं है। कवि को इस लोक तथा परलोक-मार्ग का प्रकाशमय प्रदर्शन करना पड़ता है, तब कहीं उसके चरम लक्ष्य की पूर्ति होती है। कवि संसार को वाह्य सौन्दर्य से हटा कर उसे प्रकृति के चिर-सम्बन्ध तथा सौन्दर्य की ओर खींच लाता है, जहाँ पहुँच कर मनुष्य सब से अधिक सुखी और शान्त होता है। कवि हमें सदा इस अपूर्ण जीवन से ऊँचा उठा कर एक पूर्ण जीवन का चित्र दिखाता रहता है और अपने युग की एक नवीन सृष्टि का निर्माण करने में लगा रहता है। जीवन के क्षण-क्षण में संसार को एक कवि की आवश्यकता है। कैसे कवि की? जो हमेशा उस परम तत्त्व तक संसार के साथ पहुँचने का प्रयत्न करे, जिसके लिए संसार के सभी महारथियों ने अतुल साधना की है। कवि सब के हृदयस्थ परमात्मा तथा शक्ति की ओर सङ्केत कर, जनसमाज के सामने महत्व का अभिनव-मार्ग खोल देता है जो कि लगन और सचाई के साथ सब को सुगम है। इसी विधि से एक सत्कवि देवलोक को पृथ्वी पर उतार लाता है जिसमें निवास कर सभी परमानन्द पाते हैं। यद्यपि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि को समय और

परिस्थितियों का ध्यान रखना पड़ता है, पर कवि का मूल आदर्श कभी नहीं बदलता। कवि को काव्य के सभी अंगों पर विचार करना चाहिए। मेरा उद्देश्य कवि को पराश्रयी बनाने का कदापि नहीं। पर हाँ, जहाँ वीर-रस हो वहाँ वही वीर-रस हो जिसके फलस्वरूप आज भारतीय भी महाराणा प्रताप का परम पवित्र आदर्श जानने लगे हैं। शृंगार रस के नाते भी कवि समृद्धि के समय में अपनी कविता से नव-कलियों की सेज सजाकर सोने का स्वप्न देखना भी सिखाये और संयोग-सुखी कल्पना की उड़ान मनमानी भर ले, किन्तु उसके आगे बढ़कर विषय-लालसा को उभाड़ने वाली रचना काव्य का अङ्ग नहीं मानी जा सकती· क्योंकि कल्पना सत्य का ही आभास है और सत्य की गम्भीरता और तीव्रता कल्पना के कोमल रूप में प्रकट होती है।

अस्तु, काव्य के किसी भी रूप को हमें सत्य, शिव के बाहर न जाने देना चाहिए। जो काव्य मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों को जगाता है वह सत्काव्य नहीं और उससे कल्याण की भावना रखना नितान्त मूर्खता है। इसी तरह कवि की करुणा भी अपनी स्वार्थ-सीमा से बँधी हुई नहीं होती, उसका रूप विराट् होता है और वह होती है विश्वव्यापिनी। वह व्यथित कवि को केवल अपनी ही व्यथा का अनुभव नहीं कराती, वरन् औरों की व्यथा में भी रुलाती है; इसी सहृदयता का नाम है कवि-वेदना। इसी प्रकार चाहे वह किसी रस की कविता क्यों न हो, यदि उसमें कवि के जीवन-सत्य का सन्निवेश होगा तभी वह हृदय-ग्राहिणी होगी, क्योंकि हृदय की

पावन अनुभूति और सत्य ही कविता की आत्मा है। इसीलिए कहा गया है कि "हृदय और मस्तिष्क का मधुर समन्वय ही कला का आधार है।" इन्हीं दोनों शक्तियों से कवि मानो दैवी और अलौकिक सौन्दर्य की छटा दिखलाने के लिए हमारे हृदय के बन्द द्वार खोल देता है, पर वह अपना चिरसत्य नहीं छोड़ता।

देखा गया है कि कभी-कभी शृंगार की कविता करुणा के आँसुओं से भीग जाती है, कभी रौद्र के और कभी भयानक के जाल में फँस जाती है। इसी प्रकार के अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। कविगण समय-समय पर संसार को अपना सन्देशा सुनाते रहते हैं, पर वह संयत और उपयोगी अवश्य होना चाहिए। फिर उसमें सौन्दर्य अपने-आप मधु के पास भँवर की भाँति आ जावेगा और तभी काव्य के मुख्य लक्ष्य सुन्दरं, सत्य और शिवं की प्राप्ति होगी जो कि परमानन्द है।

यद्यपि कविता का लक्ष्य सब दिन विवादास्पद विषय रहा है और है भी, पर इतना तो सभी मानते हैं कि कविता से हमें ऐसी शक्ति अवश्य मिलनी चाहिए जिससे हम अपना दुःख-भार हलका कर सकें। हमें एक ऐसा उत्साह मिलना चाहिए जिससे हम अपनी गूढ़ समस्याओं को सुलझा कर ससार में अपना स्थान तथा स्वत्व प्राप्त कर मानवता की ओर बढ़कर सुखी हों। तभी हमारी कविता की सफलता है, अन्यथा अपनी हृद्तन्त्री के तार कसकर अनन्त की ओर चलने वाले, तथा मूक व्यथा की कथा कहने वाले बहुत से कवि आये और गये, मगर उनसे न उनका, न उनके

समाज का और न उनके साहित्य का कुछ भी भला हुआ। भला जहाँ मनुष्यों को दिन भर की कड़ी मेहनत के बाद एक बार भोजन मिला करता हो, जहाँ लाखों बच्चे अकाल ही काल के गाल में बिना उचित पालन-पोषण के चले जाते हैं, जहाँ पीड़ित जनता खून के आँसू बहाती हो वहाँ के कवियों को 'ओस-मोती की माला', 'वसन्त का वैभव' तथा 'प्रियतम से' का बेसुरा राग गाना चाहिए? कदापि नहीं। कवि का गीत संसार में नवजीवन फूँक देने के लिए होना चाहिए। कवि का उद्देश्य समाज की बुरी प्रवृत्तियों को दबाना और उसे ऊँचे उठाकर एक उच्च आदर्श की ओर प्रेरित करना है। इस प्रकार वह अपनी कविता से संसार का, प्राणिमात्र का, भला करता है।

कवि को बहुधा लोग अपने समय का प्रतिनिधि कहते हैं। उसका यह नाम तभी सार्थक हो सकता है जब वह अपने समय की सभी बातों को ध्यान में रखकर अपनी सुन्दर युक्ति द्वारा बुराई को हटाने तथा अच्छाई को बढ़ाने का प्रयत्न करे।

इसलिए आज भारत के कवियों का क्या कर्तव्य होना चाहिए, यह सहज ही में समझा जा सकता है। हमें आज भी उसी तथ्य की ओर एकरूप से बढ़ने की आवश्यकता है जिसे किसी कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में यों गाया है—

अपनाये अपना स्वच्छ मान
फिर छेड़े अपनी मधुर तान।

आलोचना

साहित्य में सौन्दर्य-सम्पादन की रुचि का ही फल आलोचना है। यदि साधारण शब्दों में हम साहित्य को उपवन मान लें तो आलोचक का काम माली का काम होगा। उसका काम बगीचे की ऊजड़ ज़मीन को खाद देकर उपजाऊ बनाना तथा तरह तरह के सुगन्धित फूल लगाना एवं उनकी रक्षा करना है। किन्तु कुशल माली इस बात को भी भली भाँति जानता है कि उसका काम केवल पौधों को परिवर्द्धित करना ही नहीं है, वरन् सुरुचि के अनुसार उन्हें काटने-छाँटने का भी है। उसकी इस काट-छाँट की कारीगरी से फल-फूल-विहीन एक साधारण पौधा भी अपनी जगह पर पूर्ण और खिला सा मालूम होने लगता है।

साहित्य में इसी सौन्दर्य की रक्षा तथा निर्देश का काम आलोचक का है। मनुष्य अपनी रुचि की काट-छाँट करके किसी अपनी ही रचना में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य बढ़ा-घटा सकता है। परन्तु जो ईश्वर अथवा प्रकृति की रचना है वह मनुष्य के वश के बाहर की बात है। इस नियम के अनुसार आलोचक साहित्य में सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य की स्थापना कर सकता है, क्योंकि साहित्य कला है, जो मनुष्य-प्रणीत है और जो कुशल कारीगरों द्वारा सुन्दर से सुंदरतम बनाई जा सकती है। इस प्रकार का सौन्दर्य-योग लेखक तथा आलोचक दोनों दे सकते हैं। किन्तु लेखक तो कहीं कहीं अपने भावावेश में कुछ भूल भी कर सकता है, पर आलोचक का तो काम

ही सतर्क और जागरूक रहना है। आज हमारे साहित्य का वह युग नहीं जब लोग कहा करते थे कि अभी तो बस लिखने दो, बाद में बताया जायगा कि क्या और कैसा लिखो। अब हिन्दी का बहुत विकास हो गया है, प्रायः सभी विषयों पर थोड़ा बहुत लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। अस्तु, आवश्यकता इस बात की भी है कि हम यह भी जानें कि हमें क्या और कैसे लिखना चाहिये। इस क्या और कैसे की पूर्ति का साधन होते हैं हमारे आलोचक। आलोचना भी हो ही रही है। किंतु यदि सच पूछा जाय तो बहुत कम आलोचनाओं का वह आधार है जो कि आलोचना का उसके सच्चे अर्थों में होना चाहिए। हम देखते हैं कि सामयिक आलोचना का काफ़ी बड़ा अंश आलोचकों के मन के विकारों तथा मनताप का मापदण्ड होता है या कुछ ऐसी बात होती है जो स्वार्थ अथवा मित्रता से प्रभावित होती है। आलोचना पढ़ कर भी पाठक रचना का महत्व नहीं समझ पाता, बल्कि उल्टा और भ्रम में पड़ जाता है। ऐसी आलोचनाओं से साहित्य की हानि ही हो सकती है।

कुछ आलोचक तो इसके पीछे पागल रहते हैं कि अमुक कवि तथा लेखक की अमुक रचना को अमौलिक सिद्ध कर दें, क्योंकि उसमें किसी दूसरे साहित्यकार के कुछ भाव और शब्दावली आ गई है। बेचारे करें भी क्या? उनको स्वयं मौलिकता क्या बला है इसका पता नहीं। वे तो हर एक भाव, शब्द तथा वाक्य में रचयिता के मस्तिष्क की अनोखी उपज देखना चाहते हैं। कुछ आलोचक कह देंगे कि अमुक रचना तो हमें पसन्द नहीं आई, चाहे

इसके लिए उनके कारण, उन्हीं के मन के पिटारे में बन्द रहें। वे समझते हैं कि जो वस्तु उन्हें अच्छी न लगी वह अच्छी कैसे हो सकती है? मानो ईश्वर ने अच्छाई की मंडी का मैनेजर उन्हीं को बना दिया हो।

कुछ आलोचक कह देंगे, अरे भाई, उस पुस्तक को क्या पढ़ना है? हम लेखक को जानते हैं, उसमें कुछ दम नहीं है। उसकी दम का पता मानो इन्हें तार द्वारा मिल गया हो। कुछ लोग लिखेंगे—पुस्तक तो अच्छी है, पर इसमें 'सिन्सियरिटी' की कमी है, कल्पना अधिक है।

आलोचक को जानना चाहिए कि उसके सामने कल्पना के रूप में आने वाली कितनी ही बातें किसी के जीवन की प्रत्यक्ष और सत्य घटनाएँ हो सकती हैं।

यह है हमारे यहाँ की अधिकतर आलोचना का हाल। किंतु इस विचारधारा को लेकर आलोचना कहाँ तक की जा सकती है? आलोचना की आँच एक ऐसी आँच है जिसमें तप कर कोई भी रचना अपने असली रूप में आ जाती है। किंतु यह आँच स्वयं आलोचक की निष्पक्ष भाव की भावना से, साधना से सधी होनी चाहिए। आलोचक की उपमा प्रायः एक दर्पण से दी जाती है। उसके सामने जो चीज़ आएगी उसका ज्यों का त्यों प्रतिबिम्ब उस पर पड़ जायेगा और वह स्वयं शीशे की भाँति उसके प्रदर्शन में निष्पक्ष रहेगा। इस क्रिया में यदि शीशा गन्दा हुआ तो एक अच्छी वस्तु भी उस पर गन्दी और अस्पष्ट दिखाई देगी, किंतु आकृति की गन्दगी शीशे को किसी तरह भी गन्दा नहीं कर सकती। इसी

प्रकार यदि आलोचक का मन, हृदय तथा भाव साफ नहीं है, तो एक अच्छी रचना भी उसे गन्दी, व्यर्थ तथा अहितकर मालूम होगी। हमारे यहाँ पारा-रहित गन्दे शीशे-जैसे आलोचकों का आधिक्य है। इसमें आश्चर्य का कोई कारण नहीं, क्योंकि गौरवपूर्ण एवं सर्वांगीण आलोचना प्रस्तुत करना बहुत गम्भीर तथा कला-पूर्ण कार्य है जो साधारण लोगों का काम नहीं है। जो कला-मर्मज्ञ है और जिसका जीवन निश्चिन्त और सरस तथा निःस्वार्थ है वही सच्ची आलोचना कर सकता है।

सुन्दर शैली की ओट में अपने मन की बातों का प्रतिपादन करने वाले आलोचकों से हमारा काम नहीं चलेगा, क्योंकि संसार में अकेलेपन की जगह नहीं है, संसार शब्द ही अकेलेपन का विरोधी है। भगवान ने स्वयं 'एकोऽहं बहुस्याम्' की भावना से संसार की रचना की है। अस्तु, यहाँ विशेषतः साहित्य में और फिर आलोचना में, कोई बात व्यक्तिगत नहीं हो सकती। क्योंकि आलोचना के जितने विषय, सिद्धान्त, आदर्श और उद्देश्य हैं वे सब के लिए समान हैं, उन सब का सामाजिक मूल्य है। व्यक्तिगत सत्य तो किसी व्यक्ति की कल्पित या अनुभूत स्थिति का फल है, वह सब के लिए उसी रूप में ग्राह्य नहीं हो सकता। इसलिए कृति में, व्यक्तिगत सत्य की स्थापना की गुञ्जाइश हो भी सकती है, परन्तु आलोचना में तो वह सत्य की अपेक्षा एक अनर्थकारी असत्य का ही रूप धारण कर लेगी।

किसी बात को संसार के सामने रखने में हमें सार्वजनीन सत्य

की ही शरण लेनी पड़ेगी और तभी हम किसी को सन्मार्ग का निर्देश भी कर सकेंगे।

हमारे यहाँ की अधिकांश आलोचना से और इन तथ्यों से कोई नाता नहीं दीख पड़ता। आज संसार के सभी देशों पर यूरोप का प्रभाव है, परन्तु हमारा तो सारा जीवन उसी के मंत्र का खिलौना बना है। फलतः हमारा साहित्य भी उसी का मुखापेक्षी है। बेचारे हिन्दी साहित्य के आलोचक भी अपने काम को उसी अंग्रेज़ी के काँटे से तौलना चाहते हैं और अंग्रेज़ी के शब्दों का उनके पूर्ण ज्ञान के बिना भी ऐसा प्रयोग करते हैं मानो बिना इन शब्दों के उनका काम ही न चलता हो। किंतु उनको मालूम होना चाहिए कि इससे हिन्दी पढ़ने वाली जनता का भ्रम और भी अधिक बढ़ जाता है।

अपने अंग्रेज़ी शब्दों के पीछे पड़ने वाले आलोचकों का ध्यान मैं श्री वत्सराज भणोत, एम० ए० की इन पंक्तियों की ओर जो उन्होंने जनवरी के "विशाल भारत" में लिखी हैं, आकर्षित करना चाहता हूँ:—

"भाषा एक देश की अन्तिम सांस्कृतिक निधि है, जिस पर किसी बाहरी सम्पर्क का प्रभाव सब से पीछे पड़ता है। आजकल कम ही ऐसे मिलेंगे जो अपनी ही भाषा में सोचते हों और अपनी ही भाषा में अपने विचार व्यक्त करते हों। जहाँ सांस्कृतिक दोगलेपन का नग्न रूप आ उपस्थित होता है, वहीं पर ध्यानपूर्वक सोचने की सब से अधिक आवश्यकता है, क्योंकि दासता और प्रभुत्व के युद्ध की यह अन्तिम, परन्तु मेरे विचार में सब से महत्वपूर्ण खाई है। जब तक किसी देश में अपनी भाषा के प्रति ही उपेक्षा का भाव

विद्यमान हो, तब तक चाहे जितना ही स्वदेशवाद का ढोल पीटें, हमारे आन्दोलन में एक बड़ी भारी कमी, कमजोरी, एक एकिलिस की एड़ी बची ही रहती है, जो ऐन मौके पर धोखा दे जाती है।

"जब तक इस अपनी भाषा रूपी आटे से इस प्रायः अनजाने में ही आए ख़मीरे को नहीं निकालेंगे, तब तक उससे केवल डबल रोटी ही बन सकती है। देशी रोटी बनने की सम्भावना नहीं। देशी मैं जानबूझ कर कहता हूँ, क्योंकि उससे मेरा मतलब यह है कि चाहे किसी भी भारतीय भाषा का कोई भी शब्द व्यवहृत करो, परन्तु बीच में अंग्रेज़ी शब्द मत घुसेड़ो। खिचड़ी बनानी ही है, तो दाल-चावल देशी चीज़ों की ही बनाओ, उसमें कोई पश्चिमी, खासकर के विलायती, चीज़ नहीं आने देनी चाहिए।"

आलोचकों को समझना चाहिए कि हमारे विचार साहित्य-जगत में आकर ससार की सम्पत्ति बन रहे हैं, जहाँ उनकी व्यक्तिगत रुचि का सम्मान न होगा और उनकी मौलिक बनने के लिए अच्छी चीज़ को भी बुरी कहने का ढोंग न चल सकेगा। किसी को कोई सड़ी से सड़ी चीज़ अच्छी लग सकती है, क्योंकि उसके प्रिय व्यक्ति की है और अप्रिय व्यक्ति की बढ़िया चीज़ बुरी लग सकती है। किन्तु इसका महत्त्व उस व्यक्ति के मन ही की बात है, दुनिया उसे नहीं मान सकती। आलोचकों को उत्तरदायित्वपूर्ण बात निर्भीकता से कहनी चाहिए, यह न सोचना चाहिए कि पुस्तक का रचयिता कौन है। परिचय और व्यक्तिगत रागद्वेष की बातें सोच कर आलोचना नहीं की जा सकती। आलोचक को तो इन सभी संसारी जंजालों से परे होकर शुद्ध

तथा परिपूर्ण मस्तिष्क से आलोचना करनी चाहिए। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य आलोचना करते समय व्यक्ति को नहीं, केवल कृति को देखे और उसके पास स्वय समझने की बुद्धि और परखने के साधन हों।

आलोचक को मनोविज्ञान का पूरा जानकार होना चाहिए, विश्व-साहित्य का अध्ययन होना चाहिए, उदार चित्तवृत्ति होनी चाहिए, यह नहीं कि इधर-उधर की दो चार प्रचलित आलोचना पुस्तकें पढ़ लीं और आलोचक बन बैठे, जहाँ कोई बात समझ में न आई, उसे अपने शब्दाडम्बर से छिपा दिया और यदि इससे भी काम न चला तो कह दिया कि हमें अच्छी नहीं लगी, अपना-अपना दृष्टिकोण है। माना कि कोई मनुष्य नमक की जगह शक्कर का उपयोग करता है और उसकी दूषित स्वाद-प्रणाली को शक्कर नमक का काम देती है, पर इसका यह अर्थ कदापि न होगा कि वह ससार को नमक की जगह शक्कर का उपयोग बताए। इस विषय में एक बात और है—आलोचक की रुचि का उत्तरदायित्व। यदि कोई ऐसा निःस्वार्थ परिपक्व व्यक्ति हो जो उचित बात कहता हो तो शायद दुनिया उसकी बात मान भी ले, पर अभी हिन्दी में तो ऐसे आलोचकों का शायद एकदम अभाव है।

हमारे इस अव्यवस्थित जीवन तथा साहित्य में अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा बड़ी क्षति हो रही है। सभी पहलुओं पर एक उपयुक्त नियन्त्रण का कार्य आलोचकों का है, फिर यदि यही समाज चौपट हुआ तब तो राम ही बचाए। अब तो यहाँ भी परीक्षा के बाद केवल तपा हुआ खरा सोना ही सम्मानित होगा। तभी हमारे साहित्य की श्रीवृद्धि होगी।

हमारा साहित्य और साम्यवाद

एक समय था, जब प्रत्येक देश अपनी-अपनी सीमा में एक पूर्ण संसार था, और उसने बिना किसी मिलावट के अपना मौलिक विकास किया। आजकी नाना संस्कृतियाँ और विभिन्न देशों की अनेकरूपता इसी मौलिक विकास का प्रतिफल है। यह विकास प्रत्येक देश ने अपने सामाजिक आदर्शों के आधार पर किया और यह सामाजिक आदर्श आज भी इस बीसवीं शताब्दी में विभिन्न देशों की दन्त-कथाओं और लोक-गीतों में देखा जा सकता है। सच पूछिये, तो सभी देशों का सांस्कृतिक निर्माण एक साहित्यिक मनोहरता के संरक्षण में हुआ। उनके हृदय की सुन्दर, मधुर, कल्याणपूर्ण भावनाओं ने ही किम्वदन्तियों और लोक-गीतों में एक स्वप्न का रूप पाया है। उनकी सभ्यता हृदय की सभ्यता थी और हृदय के आधारपर ही उन्होंने अपना संगठन किया था। उस हृदय का लचन कितने मनोरम लोक में रहता था, यह प्राचीन साहित्य से ही ज्ञात होता है।

उस सीधे-सादे हृदय के उपासक समाज पर जब रुक्ष और दुर्द्धर्ष प्राणियों का आक्रमण हुआ, तब प्राचीन साहित्य और प्राचीन सामाजिक मर्यादाओं का लोप होने लगा। हृदय के स्थान पर शारीरिक प्रभुता ने अपना साम्राज्य विस्तार किया, लेखनी के अस्तित्व को तलवार ने घेर लिया और उस युग का मनुष्य और साहित्य आज

हमारे लिए एक पौराणिक वस्तुमात्र रह गया है। आज हम अपने उन सामाजिक आदर्शों को भूलकर अपने आदर्श इतिहास के पृष्ठों में ढूँढ़ते हैं। हमारी आजकी सारी अशान्तिका एकमात्र कारण यही है कि तलवारों की चकाचौंध में आकर हमने जीवन का आदर्श पौराणिक प्राणियों से न ग्रहण कर ऐतिहासिक पुरुषों से लिया है। दूसरे शब्दों में सामाजिक प्राणियों के आदर्श को तो हमने पौराणिक और अव्या-वहारिक कहकर उपेक्षित कर दिया, और आतक के बलपर प्रभुत्वका विस्तार करने वाले मनुष्यों को ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक मान लिया है। इस प्रकार हमने अपने जीवन मे एक बिना रोगका रोग उत्पन्न कर लिया है—महत्त्वाकाक्षा के भ्रम मे एक विडम्बना को पसन्द कर लिया है, और यह कितने मज़े की बात है कि इसी विडम्बना में, इसी ऐतिहासिक रुग्णता में हम अपने जीवन का स्वास्थ्य और सुविधा खोज रहे हैं। जीवन का ठीक-ठीक निदान पा जाने के लिए आज भी ससार में कितना नरसहार और रक्तपात देखने में आ रहा है, यह आज के किसी भी व्यक्ति से छिपा नहीं है। ऐसे ही हिंसक प्रयत्नो का परिणाम है आज ससार के राजनीतिक क्षितिजपर फैसिस्टवाद और साम्यवाद का उदय। आवश्यकता तो इस बात की थी कि हम आज की सम्पूर्ण अशान्ति का निराकरण मैत्री और मनुष्यत्व के आधार पर करते—उसे हम हृदय से सुलझाते, न कि द्वन्द्व और प्रतिशोध के द्वारा। गाँधीजी ने जीवन के इस निदान को ठीक-ठीक समझा, और वे ऐतिहासिक आदर्शों को विशेष महत्त्व न देकर पौराणिक आदर्शों को ससार के सामने ले आये, जिसमें हिंसा नहीं, विद्वेष नहीं, बल्कि

प्रेम और आत्मीयता का समावेश है। पौराणिक आदर्श के कारण ही वे इस बीसवीं शताब्दी के कठोर वास्तविक जगत में 'राम-राज्य' का स्वप्न देख रहे हैं। हाँ, जिन्हें अशान्तिपूर्ण वातावरण में ही रहने का अभ्यास हो गया है, उन्हें तो गांधीजी भी एक अव्यावहारिक जान पड़ते हैं और उनके आदर्श-तत्वों का आज के भौतिक तथ्यवाद के ऊपर टिके हुए साम्यवाद और साम्राज्यवाद से कोई सादृश्य न मिलने पर साम्राज्यवादी तो उन्हें विद्रोही और साम्यवादी उन्हें साम्राज्यवादी समझते हैं, परन्तु गांधीजी जीवन की किस गहराई में उतर गये हैं, यह पृथ्वी के ऊपर दिन-रात क्षुद्र स्वार्थ के लिए संघर्ष करने वाले प्राणी नहीं जान सकते। इन संघर्षों से सब तरह निराश्रित और पराजित हो जानेपर आज के अशान्त विश्व को अपने भौतिक साधनों से जब उपराम हो जायगा, तब वह भी उसी ओर मुड़ेगा, जहाँ गांधीजी का हृदय है।

यदि आज भारत स्वतन्त्र होता और अन्य देशों की भाँति उसे भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की सुविधा प्राप्त होती, तो गांधी के आदर्शों का किसी हद तक सारे संसार में क्रियात्मक प्रचार हो जाता। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-सूत्र से यदि कभी लेनिन और ट्राट्स्की को संसार के अन्य यात्रियों की भाँति गांधीजी से विचार-विनिमय करने का अवसर मिलता, तो हमें दृढ़ विश्वास है कि उनके आतंककारी विचारों में बहुत अन्तर पड़ जाता और वे आइन्स्टाइन और रोमाँ रोलाँ की तरह गांधी के विचारों के पुजारी हो जाते और उस स्थिति में हमारे घरका यह योगी जोगना न होकर हमारे साम्यवादी बन्धुओं द्वारा भी एक सिद्ध-

पुरुष ही समझा जाता और बात-बात में हमें लेनिन और रूसका उदाहरण न देना पड़ता। जब विज्ञान अपनी उन्नति से स्वय थक जायगा, तब मनुष्य अपने हृदय की उन्नति में अपना खोया हुआ स्वर्ग पायेगा। सच तो यह है कि एक दिन सारे ससार को गाँधीजी की तरह स्वप्नदर्शी बनना पड़ेगा। जो स्वप्नदर्शी है, वही कवि है और कविका आदर्श ही ससार का सम्बल रहा है और रहेगा।

परन्तु आज हम अपने जीवन मे कवि का आदर्श कहाँ पाते हैं? आज तो हमारे जीवन में पश्चिमी सभ्यता की अशान्त विभीषिका उथल-पुथल मचाये हुए है और एक रोग को हटाने के लिए हम जो दूसरा रोग उत्पन्न करना चाहते हैं, उसी को जीवन का श्रेष्ठ उपचार समझ कर हृदय की वास्तविक शान्ति की ओर से पराङ्मुख हैं। किन्तु जब हम प्रत्यक्ष जीवन में उसको सफल होते नहीं देखते, तो यह ख़याल करते हैं कि शायद साहित्य का सहयोग न मिलने के कारण ही हमारी यह असफलता है, फलतः हम अपने साहित्य और साहित्य-कारों को कोसते हैं और चाहते हैं कि जबरन् वे भी हमारे पीछे-पीछे दौड़ें। साहित्य में साम्यवादका तक़ाज़ा आज इसी प्रकार का बलात् आह्वान बन रहा है। एक ओर तो हमारे साम्यवादी बन्धु साम्राज्य-वाद का विरोध कर रहे हैं, दूसरी तरफ वे अपने इस प्रकार के आदेशों से साहित्यिकों को एक मानसिक परतन्त्रता में आबद्ध करना चाहते हैं। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि साहित्य मनुष्य की मानसिक तथा हार्दिक विचार-धारा का एक चिरन्तन प्रवाह है जो समय, परि-स्थिति तथा प्रलोभनों से बाँधा नहीं जा सकता। हाँ, यदि कलाकार

कभी सामयिक आवश्यकताओं की ओर अपना हाथ बढ़ा भी दे, तो समझना चाहिए कि वह अपने पार्थिव लक्ष्य की यात्रा में जाते समय कहीं स्थान-विशेष पर ठहर-सा गया है; किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि वह ऐसा करने को बाध्य है। लेकिन हमें आश्चर्य है कि आज साहित्य और साहित्यकार को इसी प्रकार बाध्य किया जा रहा है।

'विशाल भारत' में एक लेख 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक प्रकाशित हुआ था। उसके लेखक महोदय ने भारत की राजनीति और साहित्य का कुशल-मंगल एकमात्र साम्यवाद में ही माना है। राजनीति का कल्याण साम्यवाद से ही सम्भव है या नहीं, हम इस विस्तृत प्रसंग पर नहीं जाना चाहते। कुछ देर के लिए हम माने लेते हैं कि साम्यवाद राजनीति का एक हमदर्द साथी हो सकता है; परन्तु हमें इसमें सन्देह है कि वह साहित्यका भी एकमात्र सहयोगी बन सकता है।

राजनीति के कुछ सामयिक प्रश्नों को साहित्य समय-समय पर प्रदर्शित तो कर सकता है; परन्तु साहित्य किसी भी राजनीतिक प्रगति तक ही, चाहे वह कोई 'वाद' क्यों न हो, सीमित नहीं रह सकता, क्योंकि साहित्य में हृदय की जिन प्रगतियों की अभिव्यक्ति होती है, वे किसी सामयिक आन्दोलन मात्र से परिचालित नहीं रहतीं। जैसे हमारा अनुराग और विराग एक व्यक्ति का नहीं, एक युग का नहीं और किसी एक राजनीतिक प्रगति का नहीं है, बल्कि समस्त मनुष्य, समस्त युग और समस्त प्रगतिकी अक्षय

वस्तु है, उसी प्रकार हमारी अन्य अनेक हार्दिक वृत्तियाँ भी देश, काल और सामयिक आवश्यकताओं से परे हैं। यदि हम साम्यवाद को ही साहित्य और जीवन का सर्वोत्कृष्ट विषय मान लें और एकमात्र उसके विचारों को अपना भोजन और पठन-पाठन बना लें, तो क्या यह हमारी साहित्यिक प्रगति में रुकावट नहीं डालेगा? हमें एक ऐसे स्टेशन पर रोक नहीं देगा, जिसके आगे भी हमारी यात्रा का विस्तार हो सकता है? इसका कोई सबूत तो नहीं है कि साम्यवाद ही संसार का अन्तिम निदान होगा। अभी तो वह एक परीक्षणीय विषय है। ऐसी स्थिति में यदि हम आज साहित्य में एकमात्र साम्यवाद की सामयिक पुकार उठाने लगें, तो कल क्या कोई और भी ऊँची राजनीतिक पुकार आज की पुकार को असामयिक नहीं कर देगी? और जैसे हमारे साम्यवादी बन्धु आज हमें कोस रहे हैं, उसी तरह हमारी साम्यवादी पुकारों के लिए हमारे नवीन मतवादी हमें न कोसेंगे? ठीक तो यह जान पड़ता है कि साहित्य केवल सामयिक और राजनीतिक वस्तु न रहकर चिरन्तन की हार्दिक वस्तु बने—वह प्रशस्त हो, संकीर्ण नहीं। यदि वह प्रशस्त होगा, तभी सामयिक आन्दोलनों में समय-समय पर वह एक स्वयंसेवक की तरह अपना हाथ बँटा सकेगा। संकीर्ण होने पर तो वह बद्ध सरोवर की तरह गति-रहित हो जायगा। हमें खेद है कि 'विशाल भारत' के पूर्व-कथित लेख के लेखक महोदय हमारे साहित्य को अपने साम्यवाद के लिए स्वयंसेवक न बनाकर बन्दी-चाकर बनाना चाहते हैं और राजनीति की तंग कोठरी में उसे क़ैद की तनहाई दे देना चाहते हैं।

सम्पूर्ण लेख के पढने से ज्ञात होता है कि लेखक विदेशी ज्ञान से इतना आक्रान्त है कि उसे अपने देश की साहित्यिक और राजनीतिक प्रगति का किंचित् आभास भी नहीं मिला है। भारत किन-किन राजनीतिक प्रगतियों के भीतर से वर्तमान काल तक पहुँचा है और किस प्रकार आज संसार के सामने खड़े होने का बल पा सका है, यह जाने बिना लेखक ने हमारी सम्पूर्ण प्रगति को कदर्थित कर दिया है और एकमात्र साम्यवाद को ही हमारा परीक्षक बना दिया है। यह दृष्टिकोण ठीक इसी प्रकार का है, जिस प्रकार कोई रूसी लेखक भारतीय असहयोग-आन्दोलन को परीक्षक बनाकर रूसी साम्यवाद की आलोचना करे।

लेखक ने भारतीय राजनीति की प्रगति को समझने में कितनी लापरवाही का परिचय दिया है, इसका सबसे साफ़ उदाहरण है गुप्तजी की राष्ट्रीय कविताओं पर उसकी आलोचना।

गुप्तजी की 'भारत-भारती' के लिए लेखक ने लिखा है—"भारत-भारती' न साम्राज्य-विरोधी है और न दलित-श्रेणी की भावनाओं की रक्षक।' यहाँ पर लेखक को उस समय का ध्यान होना चाहिए, जिस समय 'भारत-भारती' लिखी गई थी। उस समय भारत की राजनीतिक प्रगति क्या थी? हमारे देश में 'स्वराज्य' शब्द कहना भी भीषण अपराध था, और नई सभ्यता के प्रवाह में स्वराज्य की भावना तो दूर, हममें राष्ट्रीयता भी पूर्ण रूप से न जग पाई थी। ऐसी स्थिति में भारत को उद्यत करने के लिए 'भारत-भारती' के लेखक को राजनीति की अपेक्षा सांस्कृतिक आधार लेना पड़ा और

यही सास्कृतिक उद्‌बोधन 'भारत-भारती' की विशेषता है। रही 'भारत-भारती' में ब्रिटिश साम्राज्य की प्रशंसा की बात, जिसके सम्बन्ध में लेखक ने उद्धरण देकर लिखा है—"जिस ऐतिहासिक जीवन-युद्ध के बीच से हम गुज़र रहे है, उस युग की यह प्रतिनिधि-कविता है, यह सोचकर भी हमें शर्म लगती है।" लेकिन आलोचक यह क्यों भूलते हैं कि 'भारत-भारती' के समय में आज के जीवन-युद्ध का स्वरूप ही कहाँ था? उस समय तो बडे-बड़े गरम नेता भी ब्रिटिश राज्य की छत्र-छाया में कुछ सुधार पा जाने से ही सन्तोष मानते थे, और ऐसे ही युग के अनुरूप 'भारत-भारती' में ब्रिटिश साम्राज्य की प्रशसा है। आज भी यदि 'भारत-भारती' में ये प्रशसात्मक पक्तियाँ ज्यो-की त्यो मुद्रित हैं, तो इसका कारण यह नहीं कि गुप्तजी को आज भी साम्राज्य के प्रति कोई आशा या प्रलोभन है, बल्कि वे पक्तियाँ तो एक युग की भावना को सूचित करने के लिए विज्ञप्ति-स्वरूप हैं, जिनसे आने वाली पीढ़ी को ज्ञात होगा कि हमारा भारत कितनी असहाय दशा से आगे बढ़ा है। उस समय की भावना केवल साम्राज्य की प्रशसा तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि एक वैध सीमा के अन्दर रहकर ब्रिटिश राज्य की त्रुटियों के प्रति उसमे असन्तोष भी था, और यह असन्तोष 'भारत-भारती' मे दीख पड़ता है। यह वैध असन्तोष 'भारत-भारती' ही में नहीं, बल्कि भारतेन्दु की 'भारत-दुर्दशा' में भी मिलता है। यही असन्तोष क्रमशः परिवर्द्धित होकर 'सविनय अवज्ञा' में परिणत हो गया।

'भारत-भारती' के द्वारा गुप्तजी की राष्ट्रीयता को मानना या तो संकीर्ण द्वेष का परिचय देना है, या अपने अध्ययन की कृपणता प्रकट करना है। गुप्तजी तो भारत की राष्ट्रीय प्रगति के साथ-साथ अपनी राष्ट्रीय कृतियों में गतिशील हुए हैं। (किन्तु याद रहे, यह प्रगतिशीलता भारत के अनुरूप हुई है, न कि किसी विदेशी राजनीतिक प्रगति के अनुसार; जैसा कि आज हमारे कुछ मित्र गांधीवाद की होड़ में साम्यवाद को भारत की राष्ट्रीय वस्तु बनाना चाहते हैं।) गुप्तजी की राष्ट्रीयता गांधीजी की मनोभावना के साथ-साथ प्रवाहित हुई है। क्या राष्ट्रीय, क्या सामाजिक, गुप्तजी की सभी भावनाएँ गांधीजी के आदर्श से ओतप्रोत हैं। इसी प्रकार प्रेमचन्दजी भी अपने औपन्यासिक क्षेत्र में गांधीजी के अनुयायी रहे हैं। किसी साम्यवादी नेता से उन्हें श्रमजीवियों के सम्पर्क में कम नहीं रहना पड़ा है, फिर भी उन्हें जो-कुछ भी उपचार मिला है, वह गांधीजी के आदर्शों में ही मिला है, क्योंकि भारत की और भारत के साहित्य की आवाज़ हम गांधी में ही सुन सकते हैं, लेनिन या स्टैलिन में नहीं।

महायुद्ध के समय में जब कि महात्मा जी दक्षिण-अफ्रिका में सत्याग्रह को सफल बनाकर भारत लौटे थे, तब उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता के लिए रंगरूटों की भरती पर ज़ोर दिया था। उस समय गुप्तजी ने भी प्रवासी भारतीयों के कष्ट-कथापूर्ण अपने 'किसान' नामक खण्ड-काव्य में गांधी जी के इस अभिप्राय को किसानों के सम्मुख रखा था। आज के अहिंसक

गांधी को यदि कोई उस प्रकार के दृष्टिकोण से 'जप' करते हुए यह कहे कि वे साम्राज्य-पोषक हैं, तो वह अपने विवेक के प्रति कितनी प्रवञ्चना करेगा ! गुप्तजी की पिछली कृतियों में उनके क्रमिक विकास की दृष्टि से हम उनका अध्ययन कर सकते हैं, न कि उनमें उनकी सम्पूर्ण परिणति देखने के लिए। गांधीजी के स्वर से स्वर मिला कर महायुद्ध के दिनों में रंगरूटों को प्रोत्साहन देने वाले 'किसान' के कवि गुप्तजी असहयोग-आन्दोलन के महात्माजी से भी अपनी कविता द्वारा आ मिले और बारडोली-सत्याग्रह के अवसर पर उनके कवि ने कहा—

हो बारडोली !
ओ विश्वस्त बारडोली, ओ
भारत की 'थर्मापोली' !
नहीं, नहीं, फिर भी सशस्त्र थी
ग्रीक सैनिकों की टोली,
डरी नहीं तू कि जो बुरा है
उसे नष्ट कर देने को,
तुली हुई है किन्तु बुरे को
आज भला कर लेने को।

हमें आश्चर्य होता है कि गुप्तजी की राष्ट्रीयता का अध्ययन करते समय हमारे आलोचक बन्धु गुप्तजी की इन पंक्तियों पर न जाकर एकमात्र 'भारत भारती' की 'साम्राज्यवादी' पंक्तियों पर क्यों चले जाते हैं ! यह प्रयत्न ऐसा ही अवाञ्छित है, जैसा कि उनके कवित्व को समझने के लिए हम 'साकेत' न देखकर उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को देखें। लेखक ने क्या गुप्तजी, क्या पन्तजी और क्या महा-

देवीजी सभी कवियों को एक ही लाठी से हाँकते हैं और उन्हें प्रतिक्रियावादी (सामन्तवादी) बतलाते हैं।

गुप्तजी के बाद खड़ी बोली के लोकप्रिय कवि पन्तजी हैं। अतएव यहाँ पर उनकी काव्य-प्रगति के विषय में हम एक दृष्टिपात करना चाहते हैं, क्योंकि यदि पन्त-ऐसा कवि भी आलोचक की दृष्टि में प्रतिक्रियावादियों की कोटि में आ सकता है, तो हमें खेद के साथ कहना पड़ेगा कि आलोचक में साहित्यिक रसात्मकता का निरा अभाव है। पन्तजी सौन्दर्य और प्रेम के एक विशिष्ट कवि हैं और प्राचीन तथा नवीन दोनों ही प्रकार के साहित्यिकों द्वारा सम्मानित हैं। अपनी कविताओं में उन्होंने जिन विशद प्राकृतिक दृश्यों और जिन महत मानवी भावों को व्यंजित किया है, वे न तो साम्राज्यवाद की वस्तु हैं, न साम्यवाद की, वे विवाद-रहित मनुष्य-हृदय की वस्तु हैं। एक खिले हुए फूल को देखकर जिस प्रकार साम्राज्य-वादी देश जापान प्रसन्न हो सकता है, उसी प्रकार उससे प्रेम करने के लिए एक रूसी साम्यवादी युवक भी आगे बढ़ सकता है। इसी प्रकार सौन्दर्य और प्रेम की अनेक विभूतियाँ सामन्त-वादी मनोविनोद का साधनमात्र नहीं हैं, बल्कि प्रकृति के आँगन में बिना किसी द्वन्द्व के प्रत्येक प्राणी के विश्राम के लिए उपकरण हैं। पन्तने ऐसे ही मनोहर उपकरणों को अपनी कविता द्वारा मनुष्य-समाज के लिए सुलभ किया है। यह नहीं कि पन्तने मनुष्य के तत्कालिक जीवन पर दृष्टिपात न किया हो। पन्तकी कविता वर्तमान जगत की प्रगति में एक स्वयंसेवक की तरह भी

सम्मिलित हो गई है। हमारे सौन्दर्य और प्रेम तो हमारी चिरन्तन सुरक्षित वस्तु हैं, उन्हें हमसे कोई छीन नहीं सकता है, इसलिए आज जो-कुछ उपेक्षित है, उसे सँजो लेने के लिए पन्त ने स्वेच्छा से अपने स्थायी कवि को आज के सामयिक कवि के रूप में परिणत कर दिया है और आज के पन्त की यह टेक है—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव - जग में बँट जावें
सुख दुख में औ' दुख सुख से !

इस प्रकार का उदार भाव रखते हुए भी पन्त साम्यवादी नहीं हैं। उन्होंने गणित के हिसाब से सुख-दुख का आर्थिक विभाजन नहीं किया है। उनको मनुष्य की बाहरी सामाजिक एकता पर नहीं, मनुष्य की आन्तरिक एकता पर विश्वास है। यह आन्तरिक एकता किसी राजनीतिक आधार पर अवलम्बित नहीं, यह मनुष्य की संवेदनशील आत्मा पर निर्भर है। इस प्रकार पन्त ने मनुष्य-समाज में उस 'हृदय' के जगाने का उपक्रम किया है, जो फूलों के सौन्दर्य को, कोयल के स्वर को और सरिता के प्रवाह को मुग्ध नेत्रों से प्यार करता है, वही हृदय उसी तरह मनुष्य को भी प्यार कर सके, यही पन्त को अभीष्ट है। साम्यवाद तो इस आन्तरिक एकता का एक राजनीतिक समझौता मात्र है, जो अनेक समझौतों की तरह जुड़-तुड़ सकता है। पन्त की नई कविता-पुस्तक 'युगान्त' से (जिसको बिना देखे कोई भी आलोचक पन्त की काव्य-प्रगति को नहीं समझ सकता) ज्ञात

होता है कि 'पल्लव' और 'गुंजन' के पन्त केवल एक छायावादी कवि नहीं हैं, वरन् वस्तुवाद को भी वे समझते हैं और वस्तु जगत की भाषा में मनुष्य को जगाना और उसे प्रेम से गले लगाना जानते हैं।

छायावाद और वस्तुवाद की कविता कोई दो भिन्न चीज़ें नहीं हैं, अन्तर केवल इतना है कि वस्तुवाद में कवित्व की अभिव्यक्ति पाठकों की अबोधता को ध्यान में रखकर करनी पड़ती है और छाया-वाद में उनकी सुबोधता को केवल सङ्केत देना पड़ता है। हृदय दोनों में एक ही रहता है। किन्तु साम्यवादी का छायावाद से सन्तुष्ट होना तो दूर, उसे वस्तुवाद से भी पूर्ण सन्तोष नहीं, वह तो वस्तुवाद के भीतर भी अपनी एक विशेष प्रभुता चाहता है। उसकी इसी मनोवृत्ति का परि-णाम है कि हमारे आलोचक ने यथार्थवाद के भीतर एक 'साम्यवादी यथार्थवाद' का घेरा बाँधा है। यह साम्यवादी मनोवृत्ति फासिस्टवादी अहं की द्योतक है। वह अपने से बाहर कुछ नहीं देखना चाहती, उसकी यही सकीर्णता उसके अस्तित्व के लिए घातक सिद्ध हो सकती है।

ख़ैर, आलोचक ने अपनी साम्यवादी प्रकृति के अनुसार छाया-वाद को बड़ी हिक़ारत की निगाह से देखा है, छायावाद के विषय में आलोचक का कहना है कि—

"छायावाद की धारा ने हिन्दी के साहित्य को जितना धक्का पहुँचाया है, उतना शायद ही हिंदू महासभा या मुस्लिम लीग ने भारत को पहुँचाया हो, यहाँ तक कि अगर आज कोई कविता लिखने बैठता है तो उसका प्रियतम खो जाता है, उसका सोने का संसार नष्ट और उसकी हृत्तन्त्री के तार झंकृत होकर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं,

उस पार से मौन संदेश आने लगते हैं। और न-जाने क्या-क्या होता है।"

जान पड़ता है कि ये पंक्तियाँ लिखते समय लेखक एक लौहयंत्र मात्र रह गया था। उसके भीतर मनुष्य का कोई हृदय स्पंदित नहीं हो रहा था। उसने जीवन को इतना ही समझा है कि कुछ ज़रूरी सामानों की सुविधा से मशीन अपना काम करती रहे; केवल 'प्रगति' उसका उद्देश्य है, उसके पास हाथ-पाँव हैं, पर हँसी और रुदन नहीं है। अन्यथा क्या जीवन की ऊँची नीची भूमि में चलते-चलते कहीं किसी काँटे से उसका हृदय न कसक उठता, किसी उद्यान से विहँस न पड़ता, या दूर क्षितिज में फूटती हुई पौ को देखकर उस पार से आती हुई किसी नई स्फूर्ति का अनुभव न होता? साम्यवाद के मानी क्या यह हैं कि मनुष्य अपनी सुकुमार वृत्तियों का बलिदान कर केवल ठूँठमात्र रह जाय, उसमें प्रेम का कोई पल्लव न लहरे, सौंदर्य की कोई कली न फहरे और उदयाचल से मनुष्य के लिए किसी नवीन जीवन का संदेश न आवे? अगर आवे भी तो केवल 'हाय रोटी, हाय रोटी' की आवाज़?

माना कि आज के साम्यवादी रूस में सभी समान सुखी और सम्पन्न हैं (यद्यपि यह केवल दूर के ढोल का सुहावनापन है); पर वहाँ की कोई विरहिणी क्या चाँदनी रात में इन शब्दों में चीख़ नहीं सकती कि—"आज भी प्रिय क्यों न आये?"

शायद इसकी रुकावट साम्यवादी सरकार ने, हमारे आलोचक की तरह, कभी घोषित नहीं की और न भविष्य में कर सकती है।

क्या साम्यवाद का यही विधान है कि मनुष्य एकमात्र मनुष्य की कृपा पर ही अवलम्बित रहे—प्रकृति ने हृदय के माध्यम से मनुष्य को जो वरदान दिये हैं, उनके उपभोग से वंचित रहे? यह तो एक नैतिक दासता है, जो राजनैतिक दासता से भी भयानक है।

कवियों को मानव-जीवन को मधुर बनाने का उतना ही श्रेय है, जितना किसी भी जननेता कर्मवीर महापुरुष को। रचनात्मक साहित्य और रचनात्मक कार्य—इन दोनों के प्रकार में अन्तर हो सकता है।

अंत में हमारा आलोचक महोदय से यह निवेदन है कि एक खास प्रकार की टकसाल में साहित्य को ढालने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। रूस में भी इस प्रकार का प्रयत्न साहित्य के विकास के लिए अहितकर समझा जा चुका है। वहाँ की प्रमुख साहित्यिक एकेडेमी की तत्त्वावधानता में खास प्रकार के साम्यवादी साहित्य को प्रस्तुत करने के लिए कुछ काल तक लेखकों को बाध्य किया गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ का साहित्य एकांगी, नीरस और बुद्धि-रहित हो गया। विश्व-साहित्य में कला की दृष्टि से जो क्षति रूसी साहित्य की होने लगी, उसकी ओर गोर्की का ध्यान गया, और उसने रूस की शासन-शक्ति के हाथ से साहित्य को मुक्ति दिलाकर उसे अनेक रूप में प्रस्फुटित होने का अवसर दिया। रूस को गोर्की ने अपनी दूरदर्शिता से जिस साहित्यिक मृत्यु से बचा लिया। आज उसी मृत्यु की ओर अग्रसर होने में हमारे साम्यवादी मित्र अपना और भारतीय साहित्य का नवजीवन समझ रहे हैं। उनका यह नवजीवन उन्हीं के लिए मुबारक हो।

प्रगतिशील हिन्दी कविता

मनुष्य के चिरकालीन अनुभव ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि दूसरे के आश्रय में रहकर पराधीन परिस्थिति में रहकर कोई भी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र पूर्ण रूप से उन्नति नही कर सकता। कवि के इस कथन में कि—'पराधीन सुख सपनेहु नाही' मे ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है। वश्यता स्वीकार करने पर विकास का मार्ग बन्द सा हो जाता है, और मनुष्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक एव नैतिक उन्नति करने में समर्थ नही होता, क्योंकि उसे अपने स्वामी की मशा के अनुसार काम करना पड़ता है।

ऐसी स्थिति मे पड कर अपने विषय में सोचने और उन्नति का मार्ग खोजने की क्षमता मनुष्य से दूर हो ही जाती है और बल्कि वह अकर्मण्य भी बन जाता है और कठपुतली की भाँति दूसरे के सकेत पर चलता है। इस प्रकार के एकाधिक उदाहरण इतिहास के पन्नों में भरे पड़े हैं। ऐसे पराधीन समाज, देश अथवा राष्ट्र का साहित्य भी प्राय. दीन दशा को पहुँच जाता है और निरतर दासता में रहने से उसके आत्म-गौरव और स्वाभिमान की भावना भ्रष्ट हो जाती है।

आज हम गुलाम हैं, हमारी नस-नस में दासता का रक्त प्रवाहित हो रहा है और हम में वे सभी गुण, जो एक दास जाति में होने सम्भव हैं, पाये जाते हैं। यही कारण है आज हमें अपना धर्म,

अपना साहित्य और अपना देश असभ्य तथा त्याज्य सा प्रतीत होता है। इस समय सारे देश में एक ऐसा समाज बन गया है जो अपनापन खोकर अपने को एकदम विदेशी रंग में रँग लेना चाहता है और अपने वेदों को गड़रियों का गीत, अपनी संस्कृति को ढोंग ढकोसला, यहाँ तक कि अपनी सभी प्राचीन पद्धतियों को Out of date कहकर छोड़ देना चाहता है। इस दास वृत्ति ने हमें एक ऐसी परिस्थिति पर ला दिया है कि हम अपने प्रति न्याय कर ही नहीं सकते, क्योंकि हमें तो बस पंख लगा कर मोर बनने की झख सवार है। इन सब मनोवृत्तियों के कारण हम देखते हैं कि हमें अपना उच्चकोटि का सत्-साहित्य भी गन्दा, व्यर्थ, जड़वादी तथा मस्तिष्क की विलासिता का साधन मात्र सा जान पड़ता है।

मेरा उद्देश्य यहाँ पर यह दिखलाने का है कि हमारा साहित्य अपने सच्चे अर्थों में उद्देश्यों की पूर्ति करता हुआ प्रगतिशील था और है। हमारे साहित्य में भी मानवी ध्येयों तथा मानवी भावनाओं का अविकल रूप मिलता है और देश तथा संसार की सामयिक परिस्थितियों से वह प्रभावित है।

किन्तु यदि हम उसको पढना, समझना और जानकर भी उसका उपयोग न करना चाहें तो यह बात दूसरी है, मगर हाँ, यदि विचार-पूर्वक पठन-पाठन किया जाय तो पता चलेगा कि हमारा साहित्य अपने देश की दासता के बन्धन से होकर अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। अधिक नहीं, केवल गत बीस-पचीस वर्षों का साहित्य देखने से ज्ञात होता है कि वह अपने उद्देश्य की ओर निरंतर तीव्र

गति से चल रहा है और बहुत से लोग साहित्य के ही माध्यम से देश-सेवा, समाज-सेवा तथा संसार-सेवा का महान् कार्य कर रहे हैं और भविष्य का मार्ग भी प्रदर्शन कर रहे हैं। फिर भी यदि हम अपने Inferiority Complex के कारण अपनी सभी चीज़ों में दोष देखना शुरू कर दें और उसी जोश में महात्मा जी ऐसे महान् नेताओं को साम्राज्यवादी और अपने सभी विदग्ध कवियों, कलाकारों को निरा बकी तथा सामन्तवादी बताना प्रारम्भ करें तो इसका क्या उपाय ?

प्रत्येक मनुष्य किसी भी विषय पर अथवा व्यक्ति पर अपनी कटु आलोचना कर ही सकता है, परन्तु अपने प्रति और दूसरों के प्रति उत्तरदायित्व का ध्यान तो रखना ही चाहिये। रही साहित्य और कला की गतिशीलता, तो उसमें इस बात का निश्चय करना है कि वह कवियों की मनमानी कल्पना पर छोड़ दी जाय या उसे किसी राजनीतिक परिस्थिति के बन्धन में बाँधा जाय। सो यह सनातन काल से एक विवादास्पद विषय रहा है।

आदि काल से लेकर इस शिक्षा और सभ्यता के विकास-क्रम तक मनुष्यमात्र कला का प्रेमी रहा है और रहेगा; यही कारण है कि किसी भी देश में उसकी कला का किसी भी अवस्था में एकदम लोप नहीं हो जाता, चाहे वह परिस्थितियों से प्रभावित भले ही हो। आज तक साहित्य का विवेचन भिन्न-भिन्न साहित्यकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है, किन्तु कुछ बातें इस भिन्नता में भी ऐसी आती हैं जिनसे सभी सहमत हैं और उनको सभी स्वीकार करते हैं।

एक विचार-धारा यह बह रही है कि साहित्य का भी युग के अनुरूप एक तारतम्य होता है और वह उसी के अनुसार प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट है कि साहित्य-कला का जो रूप महाकवि कालिदास में था वह भवभूति और श्रीहर्ष में न था। इसी प्रकार जो कला-निर्माण शेक्सपीयर और मिल्टन कर गये वह अब आज के कवि नहीं कर पाते।

इस बात से पता चलता है कि हरेक युग अपनी एक भाषा, अपना एक सन्देश और अपना एक साहित्य अपने साथ लाता है, जो कि गत या आगत किसी भी अन्य युग में नहीं पाये जा सकते। अस्तु, जो साहित्यकार अपने युग को न अपना कर उससे कुछ दूर आगे या पीछे की चीज़ संसार को देना चाहता है वह सफल नहीं हो पाता। ऐसा हम सभी देखते और अनुभव करते हैं।

यह सोचने और समझने की बात है कि आज भारत से संस्कृत भाषा जन-साधारण के बीच से उठ क्यों गई? बुद्धकालीन तथा गुप्त-कालीन कलाओं का आज लोप सा हो गया, संसार उस युग के सुन्दर संदेशों को क्यों नहीं सुन पाता? कारण यह जान पड़ता है कि आज का संसार अपने आपको संस्कृत भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर सकता। उस समय के साहित्य में, कला में अपने को भुला नहीं पाता और मनुष्य का काम इस संघर्षयुग में उन संकेतों के सहारे नहीं चल सकता, इसीलिये वह पिछली भाषा, कला, सन्देश छोड़ कर एक नवीन धारा की ओर अग्रसर हुआ है। इतना सब होते हुए भी भाषा में प्रसाद गुण, कला में मन को मुग्ध करने की शक्ति सर्वदा रही है और

रहनी चाहिये, क्योंकि साहित्य में एक ऐसे माधुर्य की आवश्यकता है जो मानव मात्र का मन अधिक नहीं तो क्षण भर को अपनी ओर अवश्य खींच ले, मुग्ध कर ले तथा प्रसन्नता और सरसता के साथ उसे अपनेपन के भाव का, उसके चिरन्तन लक्ष्य का प्रत्यक्षीकरण करा दे। इस प्रकार हम जानते हैं कि जो वस्तुएँ सन्तोषप्रद और सुखद हैं केवल उनके ही लिये माधुर्य का प्रयोग किया जा सकता है, चाहे वे वस्तुएँ लौकिक हों, अथवा पारलौकिक; इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

हाँ, तो इस समय भारतीय साहित्य में एक विवाद सा चल पड़ा है। कुछ कहते हैं कि साहित्य का सृजन हृदय और मन की वृत्तियों पर निर्भर रहना चाहिये, पर उसका उपयोगी, शिक्षाप्रद और जन-साधारण के बोधगम्य होना आवश्यक है। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि साहित्य-कला आवश्यकता से ऊपर उठी हुई वस्तु है।

अब यह हमारा काम है कि हम इसका कौन-सा रूप सच्चा और सुन्दर मानें और उसका उपयोग करें।

यह तो सभी मानते हैं कि कला की अभिव्यक्ति के लिये जिन उपायों का अवलम्बन लिया जाता है वे स्वय कला नहीं हैं, क्योंकि कला साध्य है और वे साधन, इसलिए हमको साहित्य-कला-प्रदर्शन के विषय में साहित्य की परख न करनी चाहिये। चित्रकला और सगीत-कला में लोग साध्य-साधन के विषय में कम भूल करते हैं, परन्तु काव्य-कला में ऐसी भूल होना सहज सम्भव है, इसीके फल-

स्वरूप लोग काव्य-कला की व्याख्या उपयोगी तथा विषय विशेष से करने लगते हैं। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य चाहे शिक्षा और सभ्यता के शिखर-सोपान पर भले ही पहुँच जाय, पर वह उन भावनाओं को जिनसे उसका जीवन बना है, नहीं भूल सकता—जैसे मनुष्य-मात्र विद्वान् हो अथवा मूर्ख, कवि हो या चितेरा, कभी मिट्टी के बर्तन में भोजन करके उतना प्रसन्न नहीं हो सकता जितना एक गंगा-यमुनी थाल में भोजन करके हो सकता है।

यहीं पर उसकी कला-प्रियता, उसकी मानवता छिपी है, क्योंकि पशु इस बात का ध्यान नहीं रखता कि उसका भोजन-पात्र मिट्टी अथवा सोने का बना है। उसका मतलब केवल भोजन-मात्र (घास) से है, यही उसकी कला-हीनता और पशुता है। यह देखने में आता है कि लोग अपने नित्य के उपयोग की वस्तुओं में भी एक प्रकार का सौन्दर्य तथा एक सुन्दर सजावट पसन्द करते हैं—किसी कमरे में एक सीधे-सादे टेबिल से भी काम चल सकता है और वह पूरा उपयोगी सिद्ध हो सकता है, मगर लोग स्वभाव से ही नक्क़ाशी किया हुआ टेबिल ही अधिक पसन्द करेंगे। इस बात में किसी को संदेह नहीं हो सकता, केवल इसलिए कि टेबिल में उपयोगिता के अतिरिक्त सौन्दर्य दान का भी एक गुण है, उसमें एक ऐसी भी चीज़ है जो हमारे मन को आनन्द देती है। आँखों को उसके दर्शन से सन्तोष होता है; बस यही कला है, चाहे वह जहाँ और जैसे प्रकट हो। वह भाव, देश, और काल का अतिक्रमण कर मानव-हृदय में व्याप्त रहती है। यदि सारा संसार केवल उपयोगी

और आवश्यक वस्तुओं के ही पीछे पड़ा रहे, उसी में दिन-रात सब तरह से लीन रहे, उसके बाहर उसे कुछ आनन्द ही न मिले तो वह निरा पशु बन जाय और जो ईश्वर-प्रदत्त चेतना-शक्ति उसे मिली है उसका उपयोग न कर सके, किन्तु ऐसा होता नहीं। दुःखी-सुखी, धनी-निर्धनी, बालक-युवा, स्त्री-पुरुष कुछ क्षण के लिये अपनी सांसारिक आवश्यकताओं से ऊपर उठ कर किसी परिस्थिति विशेष मे पहुँच कर आनन्द-विभोर हो जाते हैं। उनकी इस प्रसन्नता का कारण ही कला है, इसीलिए कहा गया है कि कला का राज्य सौन्दर्य है, जिसका अनुभव बाह्य और अन्तर जगत् दोनों में होता है, क्योंकि मानव-प्राणी शरीर और मन ही से नहीं बना, बल्कि आत्मा की अभिव्यक्ति करना उसकी चरम सीमा है। इसमें कोई सदेह नहीं कि उसका विश्वास शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं के ही माध्यम से होता है, पर वह शरीर मन से भिन्न है। अस्तु, निश्चय यह हुआ कि उपयोगिता, आवश्यकता तथा परिस्थिति-विशेष से ऊँची उठ कर जो वस्तु सौन्दर्य दान देकर आत्म-तृप्ति प्राप्त करे और इस जीवन-कलह से त्रस्त मनुष्य के मन को शान्ति दे, वही कला है।

इतना सब होते हुए भी कलाकार अथवा साहित्यकार अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक परिस्थितियों एव क्रान्तियों से प्रभावित अवश्य रहते हैं और अपने समय का प्रतिनिधित्व करते रहते हैं।

हमारा साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है; उसमें एक क्रान्ति की लहर है जो धर्म के नाम पर अत्याचारों को, समाज के अनुचित

बन्धनों को, दासता की हीनता को, मनुष्य में पशुता की प्रवृत्ति को अपने घर से, देश से एवं संसार से भगा देने का प्रयत्न कर रही है और मनुष्य मात्र को अपनी सरस और चिरंतन भावनाओं से ओतप्रोत कर देना चाहती है। किन्तु यदि हम अपने को उस विचार-प्रवाह से अलग रख कर एक अभागे लंगड़े प्यासे की भाँति केवल प्रवाह का कलकल सुन कर उसे नीरस, अनुपयोगी बनाने लगें तो यह बात विवेक-शीलता के परे और व्यर्थ की सिद्ध होगी।

साहित्य में प्रगतिशीलता तलाशनेवालों को कुछ मेहनत करनी चाहिये, अपने साहित्य का अध्ययन करना चाहिये; किसी विदेशी लेखक की बात पढ़ कर उसे सच न मान लेना चाहिये। यह दुःख की बात है कि हम भारत-भारती का पूर्वार्द्ध पढ़ कर पुस्तक को साम्राज्य-पोषिणी तथा पुस्तककार को निरा साम्राज्यवादी कह दें, हमें आगे यह भी पढ़ना चाहिये कि—

> बीतीं अनेक शताब्दियाँ पर हाय तू जागी नहीं,
> यह कुम्भकर्णी नींद तूने तनिक भी त्यागी नहीं ?
> देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें,
> आँसू बहावें शोक से इस वेष में पाकर हमें ?

केवल इतना ही नहीं, आगे उसी भारत-भारती का कवि गा उठता है—

> वीरो ! उठो, अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो,
> निज देश को जीवन-सहित तन, मन तथा धन भेंट दो।

यदि ऊपर की पंक्तियों के कवि की आत्मा का दर्शन किसी को साम्राज्यवादी के रूप मे मिले तो हमें आश्चर्य ही नहीं, बल्कि ग्लानि और दुःख भी होगा। यों तो संसार के किसी अच्छे कवि की कविता का आनन्द "क्या" की सङ्कुचित कसौटी से उतना नहीं लिया जा सकता जितना कि सहृदयता-पूर्ण उदार भावना की समवेदनाशील समीक्षा से।

पाठक को चाहिये कि वह साहित्यकार के कोमल स्वर को अपने मन की बातों की घरघराहट में छिपा न ले, वरन् उसका पठन तथा मनन करे। परन्तु हमारी साहित्यिक असहिष्णुता इतनी बढ़ गई है कि हम बिना समझे-बूझे भभक उठते हैं, मनमानी राय दे बैठते हैं। यह नितान्त अनुचित एवं त्याज्य है।

इस असीम विश्व मे प्रत्येक हृदय की व्यथा की कथा का कारण भिन्न होता है, उसका स्वरूप भी भिन्न होता है, किन्तु उसकी अभि-व्यक्ति का स्वर प्रत्येक उद्गार में उसके युग का सदेश अवश्य सुनाता है। इसलिए व्यक्तिगत आनन्द की आकाक्षा में आरम्भ से ही किसी साहित्यकार की कृतियों का अपमान न करना चाहिये।

कवि की किसी भी कृति मे एक पारखी की भाँति अपने मन की बातें खोजने का प्रयास करने से वे अवश्य ही प्राप्त हो जाती हैं, क्योंकि हमारे सभी वर्तमान कवियों में उनके युग के अनुरूप समयोचित सन्देशों का अभाव नहीं है। जैसे—

जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण

गान गा महासिन्धु से
सिन्धु नद-तीर-वासी !—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"

—निराला

इस कविता को पढ़कर ऐसा कौन व्यक्ति है जो फड़क न उठेगा !

कवि पर देश-काल का प्रभाव अवश्य पड़ता है। वह जैसे वातावरण में निवास करता है, उसकी आँखों में जैसे दृश्यों का उत्थान-पतन होता है उसी साँचे में उसकी भावनाएँ भी ढल जाती हैं। अस्तु, भारत के कवियों के हृदयों में आर्त्त भारत की चीत्कारों का, पराधीनता की वेदनाओं का, भूखों मरने वाले असंख्य देश-वासियों का प्रभाव पड़ा है और राष्ट्र की आत्मा बन कर कविता उनके कंठों से फूट निकली है—

गा, कोकिल, बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़-बन्धन
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानव पन—

—पन्त

कवि के भीतर कितनी क्रांति है, कितनी ज्वाला है, कितना विद्रोह है, और कितनी महत्त्वाकांक्षा है! यदि हम इसे न पढ़ कर, न समझ कर केवल शृंगारी कविताओं का ही मनन करें तो दोष हमारा। भारत ने प्राचीन काल से अब तक सदैव अपनी उन्नति, अपना विकास तथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति धर्म के माध्यम से की है। उसने कभी इस नाते साहित्य को नहीं अपनाया। एक बंद कुएँ के पानी की भाँति उसमें कुछ विकार एवं कड़वापन चाहे भले ही आ गया हो। पर इसका उत्तरदायित्व समाज पर ही है, न कि कवियों तथा साहित्यकारों पर। यद्यपि हमारे साहित्यकारों ने समय समय पर धर्म के ढकोसलों और रूढ़ियों पर भी प्रकाश डाला है, पर हम नहीं जगे, नहीं समझे और कुछ नहीं सीख सके। पर इस अपनी भूल का सुधार साहित्यिक कचहरी क़ायम करके कवियों को क़ैद करना नहीं है, बल्कि उनकी कृतियों को पढ़ना, समझना, उनकी कला का सदुपयोग करना तथा उनके संदेशों को सुनना मात्र है। प्रतिपल कवि के ये शब्द हमारे कानों में गूँजते रहने चाहिये—

गर्जन कर मानव-केशरि!
मर्म स्पृह गर्जन
जग जावे जग में फिर से
सोया मानवपन।

इस भावना तथा कामना के साथ आगे बढ़कर वही कवि ललकार देता है—

बढ़ो अभय, विश्वास-चरण धर
सोचो वृथा न भव-भय कातर।

यह दूसरों से कहता हुआ कवि स्वयं अपने मन की कोमल तथा उदार मनोवृत्ति का दिग्दर्शन इन शब्दों में कराता है—

झर पड़ता जीवन-डाली से
मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात
केवल, केवल जग कानन में
लाने फिर से मधु का प्रभात।

ये हैं भारतीय कवियों के संदेश और उनकी वन्दी आत्मा की पुकार। इतना होते हुए भी यह अवश्य है कि हम कवि-जीवन को 'साररूप में ग्रहण कर सकते हैं, संसार-रूप में नहीं।' जीवन के इस संकेत से, सरलता से, मनुष्य को मिला कर कला तथा साहित्य उसे आगे बढ़ने का मार्ग दिखाते हैं। शिक्षा मन की साधना है; किसी वस्तु का रूप शरीर और बुद्धि से जान लेना सब कुछ नहीं है,—इसके भी आगे हृदय की परख और सहृदयता छिपी रहती है। कवि एक बात को जितने ढङ्ग से, निश्चित ध्वनि से और समय के अनुसार कह सकता है वैसा और कोई दूसरा नहीं कह सकता। आज भारत में रूढ़ियों को तोड़ने का, सामाजिक बन्धन ढीले करने का एक आन्दोलन सा चल पड़ा है। कवि उसको बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त करता हुआ उस विचार-धारा का स्वागत करता है—

घृणा का देते हैं उपदेश
यहाँ धर्मों के ठीकेदार
खुला है सबके हित सब काल
हमारी मधुशाला का द्वार

केवल यही नहीं, वरन् सभी उच्च मानवी आदर्शों तथा विश्व-न्धुत्व के तथ्यों का भी कवि बड़ी रोचकता के साथ दर्शन कराता है—

एक तरह से सब का स्वागत
करती है साक़ी बाला,
अज्ञ विज्ञ में है क्या अन्तर
हो जाने पर मतवाला ?
रंक राव में भेद हुआ है
कभी नहीं मदिरालय में,
साम्यवाद की प्रथम प्रचारक
है यह मेरी मधुशाला ।

—बच्चन

इस प्रकार शायद ही कोई साहित्यकार ऐसा हो जिसने भारत की वर्तमान परिस्थिति के प्रति अपना विद्रोह और विरोध ना प्रकट किया हो और उसकी उन्नति की कामना न की हो। हाँ एक साधारण व्यक्ति की भाँति, वह किसी भी दशा में किसी को गाली तो नहीं दे सकता, पर अपने ढङ्ग से वह उस महान आदर्श की ओर बढ़ाने और उसका संदेश संसार को सुनाने का प्रयत्न अवश्य करता है।

कहीं कहीं पर कवियों ने सफल भाषा में भी अपनी बाह्य भावनाओं को व्यक्त किया है, किन्तु साहित्य-बधिरों के लिये वह भी व्यर्थ साबित हुआ, अन्यथा निम्न पंक्तियों के प्राण-स्पन्दन से वे अवश्य परिचित होते—

नाचो ! नाचो ! अमानिशा के
महाकाश-मण्डल में,
क्षयंकरी लीला दिखला पल पल में
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन
अन्तर्दृष्टि के रन्ध्र-रन्ध्र में जो स्पन्दन चेतन ।

—इलाचन्द्र जोशी

इन तमाम विश्लेषणों से पता चलता है कि हमारा वर्तमान कविता-साहित्य समय के साथ और प्रगतिशील है। उसमें अपने युग का सन्देश है और वे सभी गुण हैं जो एक साहित्य में उसके सच्चे अर्थों में होने चाहियें, किन्तु वे हैं सब अपने ढङ्ग पर और एक साहित्यिक रङ्ग के साथ।

बस, इसी प्रकार अनेकता में जीवन की एकता दिखाना कवि एवं कलाकार का काम है और यही उसका सौन्दर्य है, क्योंकि साहित्यिक उद्देश्य कभी "मानव-सद्भावों का घातक नहीं हो सकता। किन्तु साथ ही मानव-स्वभाव के आदर्शों की तुलना करने पर पता चलता है कि आदर्शों को सब के लिये बन्धन-स्वरूप बना देने पर वे अपना मूल्य खो बैठते हैं और उनसे स्वभाव का विकास होने की अपेक्षा ह्रास होने लगता है। फिर इसकी यह भी

एक विशेषता है कि हमारे सभी आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं।"

बस, यदि हम अपने साहित्य के नवीन प्रकाश को नहीं अपनायेंगे तो जीवन-जागृति के महान सत्य से सदा के लिए दूर पड़ जायेंगे और हमारा जीवन और भी संकुचित, छिद्रान्वेषी और दुःखी बन जायेगा। हम को यह कदापि न भूलना चाहिये कि उन्नति, प्रगतिशीलता तथा मानवता का चिरन्तन प्रवाह ही ससार का सत्य है, वह जीवन के बाहर नहीं मिलता और कवि, कलाकार, साहित्यकार इन सब का जीवन वही है, और वही चिर-सत्य भी उनमें है। अस्तु, यदि हम उनके संदेशों का अनुसरण और मनन करे तो उसमें हमें पर्याप्त सामग्री मिलेगी, फिर उन पर किसी प्रकार का दोषारोपण या सदेह करना हमारी ना-समझी और अहम्मन्यता का द्योतक है। जिस समय देश असह्य अत्याचारों से त्रस्त हो उठता है, जनता कष्ट से बिलबिला उठती है, उसी समय मे रहने वाला सच्चा कवि उस वेदनानुभूति को व्यक्त किए बिना रह नहीं सकता—

उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दुःख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाते हैं शूर,
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर,
स्वार्थ सदा रहता परार्थ दूर,
और परार्थ वही जो रहे

स्वार्थ ही में भरपूर;

अविराम घात-आघात

आह ! उत्पात !

यही-जग-जीवन के दिन-रात।

—निराला

इसी तरह अन्य कवियों की भी कृतियाँ हैं जो राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता से प्लावित हैं, और जो इच्छा होने पर सहज सुलभ हैं।

हमारे साहित्यकारों का एक-एक शब्द इस युग का अमर संदेश है और है उनकी आत्मा की सच्ची पुकार।

काव्य-कलना

हमारे कवि

महादेवी वर्मा

कला के सम्बन्ध में प्रायः यह कहा जाता है कि उसे उपयोगी होना चाहिए। उपयोगिता से क्या अभिप्राय है? क्या नोन-तेल-लकड़ी की तरह प्रति-दिन की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना ही उपयोगिता है? निःसंदेह यह उपयोगिता हो सकती है, किन्तु कला के लिए उपयोगिता का दायरा इतना सकुंचित नहीं किया जा सकता। कला की उपयोगिता की दिशा भिन्न है, ईंधन की लकड़ी और चित्रकार की तूलिका जिस प्रकार एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं करतीं, उसी प्रकार अर्थशास्त्र और कला एक ही दिशा में नहीं चल सकते।

यह हम मानते हैं कि भूखे देश की आत्मा को कला का रस लेने के लिए शरीर से भी सुखी होने की आवश्यकता है। किन्तु इस आवश्यकता की पूर्त्ति केवल कला द्वारा नहीं, बल्कि रचनात्मक कार्यों द्वारा हो सकती है। लेख, व्याख्यान और कविताएँ जागृति उत्पन्न कर सकती हैं, यदि वे ऐसा कर सकें तो रचनात्मक कार्यों को उनसे सहयोग मिलेगा, जैसे पैम्फ्लेटों द्वारा तात्कालिक आन्दोलन को प्रगति मिलती है। किन्तु तात्कालिक समस्याओं से ऊपर मनुष्य की कुछ चिरन्तन समस्याएँ भी हैं। ये चिरन्तन समस्याएँ देश के लिए भूखे-प्यासे होने पर भी अभीष्ट हैं और सम्पन्न होने पर भी।

देश की तात्कालिक समस्याओं का दारमदार हमारे आमाशयों पर है। किन्तु यदि हम किसी देहाती चौपाल में जा कर शाम के समय देखें तो वहाँ के संगीत-समारोह में एक भूखा किसान भी उसी उमंग से गा रहा है जिस प्रकार एक भोजन-तृप्त किसान। बल्कि बुभुक्षित की आत्मा अपने गीतों में और भी प्राणमय हो उठती है, क्योंकि उसके ऐहिक अभाव उसके मानसिक भावों में पूर्ण तन्मय हो जाते हैं। और वे गीत क्या हैं? केवल दो रोटियों के तराने नहीं, बल्कि कितनी ही सुखद स्मृतियों, कितनी ही कँटीली कसकों, कितने ही रंगीन स्वप्नों के सुरीले चित्र हैं, जिन्हें गाने के पीछे मनुष्य खाना-पीना भी भूल जाता है। यही संगीतपूर्ण विस्मृति मनुष्य को जीवित रहने की शक्ति देती है। हमारे इन विस्मृति-मय क्षणों का नाम ही जीवन है। दुनिया की भाषा में जिसे हम जीवन कहते हैं वह तो मरण है, दिन रात की हाय-हाय है; इस मरण को भुलाने के लिए ही हम कला की शरण में आते हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा जीवन की इसी कला (कविता) को लेकर हमारे साहित्य में एक निजी संगीत भर रही हैं। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', उनकी पूर्व-प्रकाशित काव्य-कृतियाँ हैं, 'सान्ध्य-गीत' उनकी नवीन कविता-पुस्तक है।

'सांध्य-गीत' में प्रकृति के आँगन में, प्रभात से लेकर सायंकाल तक, वनदेवी की तरह गीत गानेवाली महादेवी का निसर्ग-सुन्दर संसार विजन-वेदना से परिपूर्ण है। वह वेदना क्या है? वह प्रति-दिन के अभाव-अभियोगों का रोना नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि प्रति-दिन

का क्रन्दन एक-एक जीवन के साथ समाप्त हो जाता है। उसे ही लेकर रोने-गाने के लिए बैठ जाने से जीवन उससे कहीं अधिक दूभर हो जायगा, जितना कि वह अपने क्षणिक जगत् में जान पड़ता है। इस क्षणिक जगत् के सौ-सौ दुःखों का, सौ-सौ सुखों का एक-न-एक दिन अन्त हो जाता है, किन्तु सृष्टि का क्रम नहीं छूटता। बुद्बुदों की तरह असख्य प्राणियों के विलीन हो जाने पर भी न जाने किस अज्ञात कक्ष से कौन द्रौपदी के दुकूल की तरह नव-नव जीवन का विस्तार करता जा रहा है, वह मानों विश्व-मानव को पुनः-पुनः कुछ समझने के लिए, कुछ गुनने के लिए अवसर-पर-अवसर देता जा रहा है। एक एक पार्थिव जीवन की इकाई से मनुष्य उस अज्ञात के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करता है; एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, मानों सब-के-सब प्राणी एक दूसरे की समझ के पूरक बनते जा रहे हैं। मनुष्यों के ज्ञान-विज्ञान इसी समझ के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु कवि का प्रयत्न क्या है ? एक गान ! अपने गीतों में वह सहज-सजल होकर उस अनन्त के स्वरूप को उसी प्रकार प्रतिफलित करता है जिस प्रकार सिन्धु आकाश को। हाँ, कवि ज्ञान द्वारा उसे समझने के बजाय गान द्वारा ही उसे अपने हृदय में स्थान दे देता है, वह प्रेमी हो जाता है। कैसा प्रेमी ?—"हेरी मैं तो प्रेम-दीवाणी मेरा दरद न जाणे कोय"—महादेवी का कवि-हृदय भी एक ऐसा ही प्रेमी है।

ऐसे ही प्रेम-मय कला को हमारे यहाँ उपनिषदों में आत्मा की कला कहा है। वास्तव में जो कलाकार किसी ऐसी कला की

रचना करता है जिसमें उसके प्राण अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति छिपे रहते हैं। वह उसके लिये संसार के लिए आनन्दमय अवश्य होती है।

ऐसी कला अपने में पूर्ण होती है और उसके प्रच्छन्न प्रवाह में मूर्तिमान दुःख एवं करुणा भी सुख का सरस रूप पा जाते हैं। यही कला, कला है जिसके विषय में कहा जा सकता है कि—

This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered, 'It means itself.'

यही है मानव-हृदय की चिर-आकुल अभिव्यक्ति। यदि हमारे आँखों के प्रत्यक्ष रहने वाली विश्व सृष्टि भगवान के आनन्द की एक अभिव्यक्ति है तो साहित्य सृष्टि भी उसकी प्रतिध्वनि अवश्य है; अस्तु जो लोग सृष्टि के आनन्द-स्पन्दन का जितना ही अधिक उपयोग तथा अनुभव कर पाते हैं उतना ही अधिक वे इस मानवी कला का भी रसास्वादन कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि एक-एक 'पार्थिव जीवन' की इकाई से मनुष्य जिस अज्ञात के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्य अपने उत्ताप को, चन्द्र अपनी शीतलता को लेकर अनन्त की परिक्रमा करता है। कवि अपने दैनिक सुखों से विह्वलता और दैनिक दुःखों से विदग्धता लेकर अपने आराध्य के चरणों में उपस्थित होने में मार्मिक हो जाता है। सुख-दुःख की तीव्रता वह अपने ही ऊपर झेल लेता है और प्रियतम को केवल इनका

मधुर सार ही अर्पित करता है। जो केवल उसकी तीव्रता देखना चाहते हैं, वे कवि में अनुभूति का अभाव पाते हैं, किन्तु जिस विपाक्त तीव्रता को कवि ने गरल के प्याले की तरह पी कर प्रियतम के ढिग केवल अपने नवनीत-कोमल जीवन को ही अर्पित किया है, वह तीव्रता प्रदर्शित करने की वस्तु नहीं, उसे तो प्रत्येक जीवित प्राणी अपने-अपने प्रत्यक्ष जीवन में स्वतः हृदयंगम कर सकता है, यदि वह समवेदन-शील है तो। हमें ध्यान रखना चाहिए कि "बिजली का केवल वही रूप सत्य नहीं जो वज्र की तरह कड़क कर हमारे सर पर बोलता है, उसका वह रूप भी उतना ही सत्य है जो 'मेघदूत' के मेघ के स्निग्ध गभीर घोष से दामिनी की मनोहर दमक में व्यक्त होता है।"—महादेवी की वेदना-विदग्ध कविताओं में ऐसी ही मनोहर दमक है। यह नहीं कि महादेवी की वेदना में आग नहीं है। जो आग है वह ज्वालामुखी की आग नहीं, चकोर की आग है, जिसमें सजीवन शक्ति है। उन्होंने बिजली की तरह कड़क कर दुःख की उच्छृङ्खलता से वज्रपात नहीं किया, बल्कि एक नारी-हृदय से हम जिस मृदुल दिव्यता की आशा करते हैं, उन्होंने उसी की पूर्ति की है; अर्थात् उन्होंने स्वयं चिरसुन्दर प्रियतम की पूजा में आरती की लौ की तरह जल-जल कर काव्य-मंदिर में स्निग्ध उज्ज्वल प्रकाश विकीरण किया है। स्मृति, स्वप्न, विभ्रम, वेदना, लघुता, निर्वाण, ये सब महादेवी की पूजा के प्रसाधन हैं।

अत्यधिक आध्यात्मिकता अत्यधिक प्रकाश की तरह ही प्रेम में चकाचौंध पैदा करती है; ऐसा न हो, इसी हेतु महादेवी के अलौकिक प्रेम ने लौकिक प्रणय-रूपक ग्रहण किया है जो कि परिणीत हृदय के

लिए भी उतना ही निजी है जितना किसी प्रगत भक्त के लिए। यदि आत्म-समर्पण और अनन्य अनुराग का नाम ही प्रेम और परमात्मा है—चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक—तो प्रेमाराधना की यह अभिव्यक्ति महादेवी की कविताओं में बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी है। हम सब लोग सगुण या निर्गुण परमात्मा को नहीं आराध सकते; परन्तु अपनी पार्थिव इकाई से, स्वाभाविक मानवी अनुराग-विराग से उसी परम ध्येय, महानन्द की उपलब्धि कर सकते हैं जो तुलसी के लिए राम हैं, सूर के लिए कृष्ण हैं, कबीर के लिए अलख पुरुष हैं, मीरा के लिए गिरिधर गोपाल हैं, और शकुन्तला के लिए दुष्यन्त हैं। इन विभिन्न आलम्बनों से हम एक ही सत्य—प्रेम—पर पहुँचेंगे। महादेवी के गीत भी अनुपम ढंग से इसी सत्य पर पहुँचे हैं।

महादेवी ने अपनी कवित्वपूर्ण रुचि से प्रकृति में अपना एक संसार बनाया है। हाँ, उन्होंने एक संसार बनाया है, कवि का संसार। उन्होंने कंकड़ चुन-चुन कर वह महल नहीं उठाया जिसके खंडहरों को भी हम न देख सकें। बल्कि, उन्होंने एक ऐसा संसार बनाया है जो प्रकृति की तरह ही चिरन्तन है, प्रति दिन के परिवर्तन में भी नित-नूतन है, चिर-हृष्ट है। उसका विनाश भी नवनिर्माण ही करता है, ऐसा है वह अपार्थिव संसार। अपने मन के भाव-मय उपकरणों से कवि ने इस संसार को काव्य-जगत् में एक मूर्त रूप दिया है। उनका संसार मनोराग से अनुरंजित है, जिसका शब्द-चित्र समान अनुभूति द्वारा ही बोधगम्य हो सकता है, कोरे ऐहिक ज्ञान द्वारा नहीं। ऐहिक ज्ञान द्वारा तो हम देखते हैं कि पर्वत, नदी, वन, उपवन, ये सब

हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र करते हैं, जैसे हमारे घर की छतें और दीवारें। किन्तु कवि देखता है कि इन सब में पार्थिव वास्तविकता ही नहीं है, बल्कि हमारी अनुभव-गम्य आत्मा की तरह ही इनमे भी जीवन की अनेक सूक्ष्म चेतनाएँ समायी हुई हैं और सम्पूर्ण सृष्टि विभक्त होकर भी एक अखण्ड तार से बँधी हुई है, परस्पर आत्मीयता स्थापित किये है। इसी आत्मीयता की विराट् भूमि पर महादेवी का आत्म-जगत् शोभायमान है। उनकी कविताओं में निखिल प्रकृति का मानवी जीवन के साथ भाव-साम्य हो गया है। मनुष्य ने अपनी संकुचित सीमा पार कर जीवन के प्रवाह का प्रशस्त धरातल पा लिया है। ऐहिक मनुष्य तो जीवन का केवल एक माध्यम मात्र है, वह देह नहीं, देही है। उसके भीतर जो विदेही है वह शरीर से ही सीमित नहीं बल्कि निसर्ग-व्याप्त है। यही तथ्य, भावमय होकर कवि की इन पंक्तियों में संकेत दे रहा है—

सजनि मैं उतनी करुण हूँ,
करुण जितनी रात।

❀ ❀ ❀

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ,
मधुर जितना प्रात!

❀ ❀ ❀

सजनि मैं उतनी सजल,
जितनी सजल बरसात!

इस प्रकार जहाँ-जहाँ करुणा, मधुरता और सजलता है, वहाँ-वहाँ प्रियतम है।

जैसा कि कहा जा चुका है, मनुष्य देह नहीं, देही है; असीम का एक सीमित पैमाना है, किन्तु मनुष्य अपने अस्तित्व को भूल कर देह को ही सब कुछ समझ बैठा है। कवि इस मिथ्या में फँसे भूल सकता है। महादेवी ने शरीर और चेतन, देह और विदेह के सम्बन्ध को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं।

❀ ❀ ❀

रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी मैं!

मृण्मय शरीर में जो अविनाशी चेतन बन कर समाया हुआ है वही 'देह' का देही है, वही आराधनीय है। उसे ही आराध्य बना कर महादेवी ने अपने प्रणय-रूपकों की रचना की है। वह किसी एक देह में सीमित नहीं, वह असीम होकर चारों ओर हमें रिझा-खिझा रहा है, अपनी देह में जब हम उसका आभास पाते हैं तब क्षण भर मिलन सुख से पुलकित हो जाते हैं, जब अपने आपको भूल कर उसे दिग्-दिगन्त से ग्रहण करना चाहते हैं तब उसकी असीमता के प्रति हम विरही हो जाते हैं। यही है महादेवी के कवि का मिलन-विरह। 'सान्ध्य गीत' में उनके मिलन की सुखद स्मृतियों और विरह की दुखद घड़ियों के प्रेमोद्गार हैं।

स्मृतियों के तट पर खड़ी होकर कवि की आत्मा कभी सोचती है—

जाने किस जीवन की सुधि ले

लहराती आती मधु बयार।

कभी सोचती है—

क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?

शशि के दर्पण में देख-देख

मैंने सुलझाये तिमिर-केश;

गूँथे चुन तारक-पारिजात,

अवगुंठन कर किरणें अशेष

क्यों आज रिझा पाया उसको

मेरा अभिनव शृंगार नहीं ?

कवि के इस शृंगार में उतनी ही विशदता है, जितनी कि उसकी प्रियतम में व्यापकता।

यह नहीं कि, प्रेयसी ही प्रियतम की आराधना करती है, बल्कि प्रियतम जिस निरुपम छवि से प्रेयसी को रिझा रहा है, उसको रिझाने के अनुकूल सौन्दर्य का विन्यास उसने उसी के पार्थिव दर्पण में बिंबित होकर किया है। इसलिए उसे प्रेयसी भी अंगीकृत है। किन्तु प्रियतम (नटवर) है, न जाने कब निर्मोही होकर इस दर्पण को क्षणभंगुर कर दे, अतएव—

तोड़ देता खीझ कर जब तक न प्रिय यह मृदुल दर्पण

देख ले उसके अधर सस्मित, सजल दृग, अचल आनन,

आरसी प्रतिबिम्ब का कब चिर हुआ जग स्नेह नाता।

यह पार्थिव जीवन में अपार्थिव के आभास का एक संकेत है, अपनी साकारता में निराकार के प्रति निष्ठा है। किन्तु जब कवि अपनी 'इकाई' में नहीं, बल्कि 'उसे' उसकी 'सम्पूर्णता' में ग्रहण करना चाहता है, और अपने आपको भूल कर उसकी असीमता में यों विलीन हो जाना चाहता है ज्यों अनन्त नभ में कोई रागिनी, तब उसे अपने पार्थिव पार्थक्य से सन्तोष नहीं रह जाता, उसकी आत्मा विकल विरहिणी हो जाती है। उसके जीवन में एक ही ध्येय रह जाता है—विरह। अद्वैतता दीख पड़ती है, मिलन में तो दो की सत्ता सामने आ जाती है। निम्न-लिखित पंक्तियों में कवि ने विरह की एक ऐसी ही निगूढ़ स्थिति का निर्देश बड़ी सरलता से किया है:—

आकुलता ही आज हो गयी तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा!

विरह और वेदना, मनुष्य को अभीष्ट के समीप पहुँचाते हैं, इन्हीं से मनुष्य का जीवन निखरता है, इसी आध्यात्मिक तथ्य को लेकर महादेवी ने अपने गीतों का संसार गुञ्जरित किया है। उनके प्रणय-रूपकों में उन सभी प्रकार के हाव-भावों का निदर्शन है, जो एक प्रेमिका अपने प्रियतम के प्रति न्यौछावर करती है, राधा की तरह उन्मादिनी होकर, मीरा की तरह विरागिनी होकर। उनमें हँसी भी है, रुदन भी है, एक प्रेमी-हृदय की चित्तवृत्ति के अनुरूप। रोते-रोते हँस देना, हँसते-हँसते रोने में ही शान्ति पा लेना, यह एक प्रेमी का पवित्र पागलपन है। परन्तु यह पार्थिव पागलपन से भिन्न है, कवि ने तो इसे इस प्रश्न द्वारा ही इंगित कर दिया है कि भूतल

पर रह कर भी यह प्रेम-क्रीड़ा किसके लिए है:—

रज-कणों में खेलती किस

विरज विधु की चाँदनी मैं ?

जिस विरज विधु का आधार इतना विस्तीर्ण आकाश है, उसके मनुहार के लिए छोटे-से ऐहिक सुख-दुःख को लेकर उपस्थित होने में क्या लज्जा नहीं मालूम पड़ेगी ! इसलिए उस आराध्य के गौरव के अनुकूल ही महादेवी के कवि ने विशद हर्ष, विशद विषाद लेकर अपने को निवेदित किया है। उसका चरम सुख-दुःख छोटे से ऐहिक अस्तित्व में न समा कर निसर्ग के दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गया है।

ऐसे कवि का सजल दुःख केवल आँखों का आँसू बन कर नहीं रह जाता, बल्कि आकाश की बदली की तरह विस्तीर्ण हो जाता है। उसके शब्द—

मैं नीर-भरी दुःख की बदली !
मैं क्षितिज-भृकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नव जीवन-अंकुर बन निकली ?

❀ ❀ ❀

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,

परिचय इतना इतिहास यही

उमड़ी कल थी मिट आज चली !

कवि के दुःख का यह शाब्दिक निराकार है, किन्तु इसमें लौकिक नियम के प्रतिकूल यह अलौकिकता है कि उसका दुःख अपने ही सुख के लिए नहीं है, बल्कि अखिल जगत् को सींच देने की उसमें स्नेहार्द्रता भी है। यही उसके पार्थिव अस्तित्व की सार्थकता है। परन्तु उसका अपार्थिव रूप क्या है ?—

उमड़ी कल थी मिट आज चली !

—सृष्टि के लिए अपने को मिटा कर अपने निराकार आराध्य की तरह निराकार हो जाना, हमारे ऐहिक अस्तित्व के लिए चाहे आकाश-जैसा विशाल आँगन ही क्यों न मिल जाय, चाहे वह प्रासाद हो चाहे राजमहल किन्तु वह हमारा होकर न रहेगा—

"चुनि-चुनि कंकर महल उठाया
लोग कहैं घर मेरा,
ना घर मेरा, ना घर तेरा
चिड़िया रैन बसेरा।"

ऐसी स्थिति में अपने आपको मिटा कर संसार में जीवन बरसा जाने से बढ़ कर हमारी सुन्दर गति और क्या हो सकती है ? हम न रहेंगे, पर, नये-नये अंकुरों में हमारी याद तो रहेगी। किसी की याद में रहना, यही हमारा अमिट अस्तित्व है।

कवि के जीवन में दुःख की बदली ही नहीं, सुख की सौदामिनी भी है, एक में करुणा है दूसरी में शक्ति—

मुस्करा दी दामिनी में
साँवली बरसात मेरी

क्यों इसे अम्बर न निज
सूने हृदय में आज भर ले ?
क्यों न यह जड़ में पुलक का,
प्राण का संचार कर ले ?

इस प्रकार नारी-हृदय की सार्वभौम करुणा और सार्वभौम शक्ति लेकर महादेवी ने विश्व के लिए चिरमंगल की आराधना की है। सांसारिक जीवन में नारी-हृदय की, जो विभूतियाँ बद्ध-सरोवर की भाँति अवरुद्ध रहती हैं, उन्हें ही महादेवी ने कवि-जीवन में सिंधुवत् प्रशस्त कर दिया है।

वर्तमान हिंदी-कविता में वे रहस्यवाद की एकमात्र कवयित्री हैं। रहस्यवादी कहने के साथ ही हमारे सामने साधक ज्ञानियों का स्वरूप आ जाता है; किंतु महादेवी साधक नहीं, आराधक हैं; ज्ञानी नहीं, गायक हैं। अपने कवि को एक शिशु की सी मनःस्थिति में रख कर उन्होंने प्रत्यक्ष जगत् में अप्रत्यक्ष जगत् की सृष्टि की है, जो उतना ही मनोहर है जितना कि तरुओं के सुकठिन वस्तु-जगत् में नव-किसलयों का संसार ! पार्थिव ज्ञान से वह शुष्क नहीं, अपार्थिव दार्शनिकता से वह जटिल नहीं। बल्कि बाल्य-भावना की तरह सहज सुन्दर है। जिस प्रकार परमहंसों के लिए बाल्य भाव शोभन है, उसी प्रकार किसी कवि के लिए भी।

इसके अतिरिक्त साहित्य का विषय ज्ञान नहीं किन्तु भाव है। ज्ञान तो किसी के सामने परिवर्तित रूप में भी रखा जा सकता है, प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है, किन्तु भावाभिव्यक्ति का साहित्य-सृजन के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं। ज्ञान का अधिकारी प्राणीमात्र है। भाव की केवल सहृदयता।

इस सहृदयता की साधना में महादेवी जी कुशल हैं—

शूलों में नित मृदु पाटलसा,
खिलने देना मेरा जीवन,
क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को बिंधवाना?
नित जलता रहने दो तिल तिल,
अपनी ज्वाला में उर मेरा,

इसकी विभूति में, फिर आकर अपने पद-चिह्न बना जाना।

यह है उनकी दार्शनिक सरस अभिव्यक्तियाँ जो सहज ही, अपनी भाव प्रवणता के कारण ग्राह्य हैं।

तुम सो जाओ मैं गाऊँ!
प्रिय तेरे नभ मन्दिर के
मणि दीपक बुझ बुझ जाते;
जिनका कण कण विद्युत है
मैं ऐसे प्राण जलाऊँ।
हँसने में छू जाते तुम
रोने में वह सुधि आती।

मैं क्यों न जगा अणु अणु को
हँसना रोना सिखलाऊँ।

इन गीतों का पाठक सदैव अपने को कवि के साथ पावेगा और यही कला का दिव्य-दर्शन है।

इसी प्रकार के अपने अनेक गीतों की मार्मिकता से, महादेवीजी, हाल की पीढ़ी के नवयुवक कवियों का प्रतिनिधित्व कर रही हैं। नवयुवकों ने जिस सवेद्यता से उनकी भाषा और शैली को अपनाया है, उससे जान पड़ता है कि गीतो के स्कूल में वे सब से अधिक लोकप्रिय हुई हैं। उनकी अनेक पंक्तियाँ काव्य-जगत् में कहावतों की तरह कण्ठस्थ हो गयी हैं।

उनकी वेदना की जो एक खास भाषा है, वह अपना संगीत अपने आप बनाती है। काव्यशास्त्र की तरह उनके गीत भी उस्तादों के सगीत शास्त्र पर निर्भर नहीं, विशेष क्षणों में वे स्वय निर्गत हैं। हाँ, संगीत के प्रवाह पर वे जितना ध्यान रखती हैं, उतना काव्य के कुछ साधारण मुलाहिजो पर ध्यान नहीं देतीं, असाधारण के लिए वे साधारण को छोड़ देती हैं, जैसे, कहीं कहीं उनके तुक 'तुक' न रह कर केवल अन्त्यानुप्रास मात्र रह जाते हैं—

दृग मेरे दो दीपक झिलमिल,
भर आँसू का स्नेह रहा ढुल,
सुधि तेरी अविराम रही जल,
पद-ध्वनि पर आलोक रहूँगी वारती!

इसमें 'मिल', 'घुल', 'जल', तीनों तीन प्रकार के तुक होकर भी पद-प्रवाह में अपनी असमता का बोध नहीं होने देते।

महादेवी की भाषा संस्कृत-गर्भित है, किन्तु काव्य-स्निग्ध सुसंस्कृत है, जिसके कारण वह सहज संगीतमय होकर रुचिकर जान पड़ती है। उनकी भाषा, संस्कृत के अवगुण्ठन से छन कर निखर गयी है। प्रवाह में पड़े हुए उत्पल-खण्ड की तरह वह सुकोमल हो गयी है:—

कीर का प्रिय आज पिञ्जर खोल दो!

हो उठी हैं चञ्चु छूकर, तीलियाँ भी वेणु सस्वर;
बन्दिनी स्पन्दित व्यथा ले, सिहरता जड़ मौन पिञ्जर!

आज जड़ता में इसी की बोल दो!

जग पड़ा छू अश्रु धारा, हत परों का विभव सारा;
अब अलस बन्दी युगों का—ले उड़ेगा शिथिल कारा!

पंख पर वे सजल सपने तोल दो!

क्या तिमिर कैसी निशा है! आज विदिशा ही दिशा है;
दूर खग आ निकटता के—अमर बन्धन में बसा है!

प्रलय-घन में आज राका घोल दो!

चपल पारद सा विकल तन; सजल नीरद सा भरा मन;
नाप नीलाकाश ले जो बेड़ियों का नाप यह बन,

एक किरण अनन्त दिन की मोल दो!

महादेवी जी की काव्य-रुचि अत्यन्त अलंकृत है। कविता में अलंकार आभूषण नहीं, बल्कि उसके भाव-चित्रों के रूप-रंग हैं। कविता में संकेत रूप में इनका सुमन्द प्रयोग ही अच्छा जान पड़ता है। अलंकारों

में रूपक-अलंकार महादेवीजी को अधिक प्रिय जान पड़ता है, जिससे एक परिपूर्ण चित्र-छवि अंकित हो जाती है, साथ ही अमूर्त्त भावों को पूर्ण मूर्त्तिमत्ता मिल जाती है। यह रूपक-प्रेम महादेवी जी की चित्रानुरागिता का द्योतक है:—

मेरा सजल मुख देख लेते ! यह करुण मुख देख लेते !
सेतु शूलों का बना बाँधा विरह-वारीश का जल;
फूल सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल;
दुःखमय सुख, सुखभरा दुख
कौन लेता पूछ जो तुम—ज्वाल-जल का देश देते ?
नयन की नीलम-तुला पर मोतियों से प्यार तोला;
कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला !
भ्रान्तिमय कण, भ्रान्तिमय क्षण,
थे मुझे वरदान जो तुम माँग ममता शेष लेते !

महादेवीजी कवि के अतिरिक्त चित्रकार भी हैं, 'सान्ध्य गीत' के रंगीन चित्र उनकी तूलिका द्वारा रेखाङ्कित काव्य हैं। जिस प्रकार उन्होंने चित्रों को कवित्व-मंडित किया है, उसी प्रकार 'सान्ध्य गीत' के प्रकाशन को भी एक सुरम्य व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है। हिन्दी में यह पहली कविता-पुस्तक है, जिसमें एक ही कलाकार द्वारा काव्य, चित्र और मुद्रण की विशेष सुरुचि का परिचय मिलता है। कला देवियों का जातीय गुण है, अतएव महादेवीजी की कृति में कला के इस एकत्रीकरण को देख कर आश्चर्य नहीं होता। उनकी सभी कृतियों में, उनकी प्रकृति के प्रति भावमग्नता के साथ एक चतुर

चित्रकार की कला एव एक वैज्ञानिक की सूक्ष्म दृष्टि का बहुत सुन्दर समन्वय पाया जाता है।

अन्त में कवि के व्यक्तित्व पर दो शब्द। महादेवीजी अपने कवित्व में वेदना विदग्ध हैं, किन्तु उनका व्यक्तित्व एक अनुपम रहस्यमयी दीप्ति से सदा आलोकित रहता है। यही भारतीय कला की साधना का वरदान है। उनकी ये पंक्तियाँ उनके कवित्व तथा व्यक्तित्व में जैसे सजीव हो उठी हों—

शलभ मैं शापमय वर हूँ,
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।

× × ×

दीप-सी जलती न तो
यह सजलता रहती कहाँ!
रे पपीहे! पी कहाँ!

अंत:प्रकृति की सजलता और बाह्य प्रकृति की प्रज्वलता के ऐसे ही भावों से महादेवीजी की कला सुसज्जित है। हमें उनकी कविता के शब्द-शब्द में, और उनके व्यक्तित्व की प्रत्येक गति में एक ऐसे कलाकार तथा महान आत्मा के दर्शन होते हैं जिसमें साधना और संयम के साथ सम्पूर्णता का आभास है। इसीलिये उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की साधना, विकास की सीमा और आध्यात्मिकता का मूल प्राण हैं जो युग-युगों से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एक मात्र उपादान रहा है।

मैं अपने अध्ययन और अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि महादेवीजी ने अपनी भाव-सुन्दरता के लिये ही काव्य-कला की सृष्टि की है। उन्होंने अपने हृदय के भाव-विशेष को मूर्ति का रूप दिया है जिसे देख कर मालूम होता है कि यह अन्य कोई प्राकृत मूर्ति न होकर साक्षात् सौन्दर्य, प्रेम या करुणा की ही मूर्ति है। हिन्दी-संसार में ऐसी विशुद्ध कला-कृति किसी भी दूसरे कलाकार की नहीं है। देवीजी के सभी भाव निर्दोष और उच्च तथा अलौकिक हैं, इसी से उनमें आनन्द और तन्मयता भी सात्विक रूप में है। उनकी कविताओं को पढ़कर हमें अनिर्वचनीय सुख का अनुभव होता है, साथ ही यह भी पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन के सम्पूर्ण सार को कला के रूप में संसार को भेंट किया है, इसीसे उनकी कृति में सत्य की झलक ही नहीं बल्कि सत्य का साक्षात्कार है, दिव्यता और अमरता है; जिससे युग-युगों तक संसार को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द और सुख मिलता रहेगा, यह मेरा पूर्ण विश्वास है।

जयशंकर 'प्रसाद'

कवि स्वभावतः भावुक होता है और भावुक लोगों के मन में भिन्न भिन्न प्रकार की भावनाएँ उठती रहती हैं। साधारण भावुकता में तो लोग अपने हृदय-सागर के उन अमूल्य रत्नों को खो बैठते हैं, किन्तु एक सच्चे मननशील तथा सहृदय भावुक की भावनाएँ पूर्ण भावमय बन कर समय-समय पर विकसित होती रहती हैं और एक कवि उन्हीं को अपनी भाषा के द्वारा संसार के सामने उपस्थित करता है, तभी कला की सृष्टि होती है।

'प्रसाद' ऐसे ही महान कलाकार हैं। उनकी प्रतिमा सर्वतोमुखी है, क्योंकि आप चाहे नाट्यकला की चातुरी तथा सुन्दरता देखिये, या उनकी महाकाव्य रचना की कमनीय छटा देखिये, अथवा उनके गीति-काव्य के सरस और मधुर हृदयोद्गारों को देखिये या उनके आध्यात्मिक रहस्यों से भरे हुए सरस स्फुट छन्दों को देखिये, कहने का उद्देश्य यह कि आप साहित्य-सौन्दर्य के चाहे जिस पहलू से देखिए सभी ओर वह एक सफल-मनोरथ और उच्चकोटि के सृष्टिकर्त्ता हैं। उनकी इस पावन तथा प्रौढ़ प्रतिमा को देख कर आनन्द विभोर हो जाना पड़ता है और अचानक मुँह से निकल पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य में ऐसी प्रतिभा का सुन्दर एवं सफल समागम बहुत बड़ी साधना का सुफल है।

वर्तमान काव्य-युग के 'प्रसाद' पावन प्रभात हैं। उनके नीचे के प्रभात गीत से पता चलता है मानों वह नवयुग का आह्वान कर रहे हों, भव्य भारती को अपनी सुषमा के साथ निमन्त्रण दे रहे हों—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खग कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु-मुकुल नवल रस गागरी।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये,
तू अब तक सोई है आली ;

तुम्हारी आँखों का बचपन!

साथ ले सहचर सरस वसन्त,
चंक्रमण करता मधुर दिगन्त,
गूँजता किलकारी निस्वन,
पुलक उठता तब मलय पवन।

आज भी है क्या नित्य किशोर
उसी क्रीड़ा में भाव विभोर?
सरलता का वह अपनापन
आज भी है क्या मेरा धन!
तुम्हारी आँखों का बचपन!

इस कविता में कवि ने बड़े चमत्कार-पूर्ण शब्दों में अपने अतीत के अल्हड़पन का चित्रण किया है। इससे हम उनकी सौम्य-सुषमा तथा उनके अपने शिशु का सहज-आकर्षणमय दर्शन पाते हैं। किन्तु कवि अपने अतीत गौरव पर ही एक आलसी की भाँति सन्तोष नहीं पाता, वह सदैव अपने वर्तमान को अपनी मधुर-स्मृतियों से सिंचन करता हुआ उसे आगे उसी रस धारा के सहारे बढ़ाने को

व्याकुल सा दीख पड़ता है। आत्मचेतना की चुटकियाँ लेता है, जागरूकता के प्रति आसक्ति दिखाता है—

अब जागो जीवन के प्रभात!

तम-नयनों की ताराएँ सब—
मुँद रहीं किरण-दल में, है अब
चल रहा सुखद यह मलय वात!

अब जागो जीवन के प्रभात!

ऊपर की कविता में ध्वनि, समय तथा सन्देश की बड़ी सुन्दर एक-रूपता हो गई है। ज्ञात होता है ऊषा के रक्त रंग के साथ कवि-जीवन में भी उसके उल्लास तथा यौवन का रंग चढ़ गया हो।

स्वभावतः इसके बाद की कविताओं में हम गम्भीरता की अपेक्षा सौन्दर्य-माधुर्य अधिक पाते हैं, जिसमें यौवनोल्लास की मधुरिमा की स्पष्ट किन्तु संयत छाया मिलती है—

वह लाज भरी कलियाँ अनन्त,
परिमल घूँघट ढक रहा दन्त।
कँप-कँप चुप-चुप कर रही बात,

नक्षत्र-कुमुद की अलस माल
वह शिथिल हँसी का सजल जाल—
जिसमें खिल खुलते किरन पात।

× × ×

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट
छा जाने दो

× × ×

हँस झिलमिल हो लें तारागन,
हँस खिलें कुञ्ज में सकल सुमन,
हँस बिखरें मधु मरन्द के कन,
—सब कह दें 'वह राका आई।'

× × ×

हँस लें जीवन के लघु-लघु क्षण,
देकर निज चुम्बन के मधुकण।

ऊपर की प्रायः सभी पंक्तियों में यौवन जैसे साकार हो उठा हो। 'प्रसाद' की इस सौन्दर्य-सृष्टि में हम प्रकृति की सरस तथा स्निग्ध ओट में मानव विलास की झाँकी पाते हैं, किन्तु वह प्रकृति की भाँति प्राञ्जल और देहिकता शून्य है, फिर भी उतनी व्यापक नहीं। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि प्रसादजी का यह उल्लास तथा सौन्दर्यप्रियता एक मनुष्य की थी, देवता की नहीं, इसीसे मानवता से उसका चिर-सम्बन्ध है। हाँ, यह बात दूसरी है कि प्रसादजी ने अपने सौन्दर्य-दर्शन में प्राकृतिक और चेतन सौन्दर्य दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। वास्तव में कला का सौंदर्य यही है। इसीसे कवि को प्राकृतिक अवयवों से मानवी अवयवों का रूपकमय चित्रण करना पड़ता है।

'प्रसाद' ऐसे चित्रण के चित्रकार हैं, किन्तु जब तक कवि अपने भावों का साम्य स्थायी रूप से प्राकृतिक पदार्थों में नहीं कर पाता तब तक उसे सन्तोष नहीं मिलता और उसे केवल वैज्ञानिक तथ्यों पर स्थित सौंदर्य अरुचिकर सा मालूम होने लगता है, क्योंकि वह तो

हृदय का सत्य चाहता है। समय-समय पर अपने कल्पना-निर्मित संसार से हम 'प्रसाद' को ऊबा हुआ पाते हैं। जब 'प्रसाद' का कवि देखता है कि यौवन का उल्लास, उसकी रंग-रेलियाँ केवल एक समय का सत्य था तब वह उस सत्य में शिव और सुन्दर की स्थापना करने को विकल हो उठता है। उसकी इस विकलता जनित वेदना का दर्शन हम इस प्रकार पाते हैं—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे!
प्राण पपीहा के स्वर वाली
बरस रही थी जब हरियाली
रस जलकन मालती-मुकुल से
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ-पट पर वह विरला,
मेरी जीवन स्मृति के जिसमें,
खिल उठते वे रूप मधुर थे।

इस प्रकार का हृदय-मथन, 'प्रसाद' का बराबर चलता रहा है। इसीलिए उनका काव्य भी 'झरना' से लेकर 'लहर' तक जीवन की भिन्न-भिन्न तरङ्गों से तरङ्गित सा दीख पड़ता है। उनके यहाँ तक के काव्य में जीवन की विषम परिस्थितियों की बहुरूपता तो अवश्य है, पर वह उसको एकरूपता का संगठित रूप नहीं दे सके। मानो काव्योपवन के सभी फूलों का आनन्द लेते हुए भी अपने लिए एक गुलदस्ता न बना सके हों। इसीलिए कवि सन्तोष नहीं पाता और उसका कलपना जारी रहता है—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना

× × ×

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को!

× × ×

छोटी सी कुटिया में रच दूँ
नई व्यथा साथिन हो।

इन उपरोक्त पद्यों से पता चलता है कि 'प्रसाद' को अपने यौवनकाल से महान ममता है, किन्तु यह ममता एक त्यागी की है। उन्होंने आत्मानुभूति की प्रेरणा से अपनी लालसा में विजय पा ली है या यों कहा जाय कि लौकिक ममत्व से ही उन्होंने अलौकिक प्रेम प्राप्त किया है। ठीक भी है, क्योंकि जब तक हम किसी रूप की कल्पना न कर लें तब तक किसी अनदेखी वस्तु पर, सौन्दर्य पर, हमारी ममता तथा आत्मीयता नहीं हो सकती। सौन्दर्य का समष्टि-प्रकाशन उस अव्यक्त को व्यक्तित्व देने का साधन मात्र है।

जीवन सरिता के इस विषम प्रवाह में बहते हुए भी अपनी कामना, साधना तथा आराधना से अन्त में 'प्रसाद' अपने लक्ष्य तक पहुँच गए हैं। क्योंकि जीवन की, संसार की तथा हृदय की भिन्नता पर अपने अधिकारों की स्थापना कर देना एक महान कलाकार का काम

है, तभी कवि देह, प्राण और मन की सारी पार्थिवता छोड़ कर सौन्दर्य-बोध कर पाता है। इसी स्थिति के अनुभव का फल 'प्रसाद' का यह गीत है—

तुम कनक-किरन के अन्तराल से
लुक-छिप कर चलते हो क्यों!
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य! बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों!

यह है सौन्दर्य-बोध। इस सौन्दर्य के अन्दर बल है, विचार है और है दृढ़ता। इसी सौन्दर्य-लालसा ने कवि की प्रवृत्तियों को संयत करने में सहायता दी है। इस मंगलमय पूर्णता में पहुँच कर कवि शान्त हो जाता है, और एक सुमन की भाँति अपनी प्रौढ़ता में, वर्ण तथा गन्ध (बाह्य आडम्बर) को छोड़ कर अपने आपको एक फल के रूप में परिणत कर देता है। यही समय विकास की सीमा का माना गया है और 'प्रसाद' की 'कामायनी' इसी प्रकार का जीवन-फल है। इस फल का रस मनुष्य के हृदय का रस है जो साहित्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। प० इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में "हिन्दी में महाकाव्यों तथा खण्ड काव्यों की कमी नहीं है, पर एक तुलसीदासजी की रामायण को छोड़ कर और किसी भी ऐसे काव्य को हम विश्व-साहित्य के पारखियों के आगे पेश नहीं कर सकते थे जिसके सम्बन्ध में हम गर्व के साथ यह दावा कर सकते

कि उसमें भी इस 'विश्व कुहर के इन्द्रजाल' का मायावी पट कला की अन्तर्विदारिणी तथा मर्मभेदिनी छुरिका से आर-पार चीर डाला गया है, अथवा उसमें निखिल को उद्भासित करने वाले अमर-आलोक का निरञ्जनाभास अपूर्व निपुणता के साथ अभिव्यञ्जित हुआ है। 'कामायनी' की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो मानव मन में आदि काल से जड़ीभूत अन्ध तमिस्र-पुञ्ज का विदारण कर जीवन के नव-नव वैचित्र्यपूर्ण आलोक-पथों से होते हुए अन्त में चिर अमर आनन्दाभास के अन्वेषण की आकांक्षा से व्याकुल है।"

इस नव-युग के महाकाव्य की मधुरता एवं सरसता का आनन्द तो उसे पूर्णतया पढ़ कर ही लिया जा सकता है, फिर भी मैं कुछ उदाहरण यहाँ रखता हूँ—

ओ जीवन की मरु मरीचिका
कायरता के अलस विषाद !
अरे पुरातन अमृत अगतिमय
मोह-मुग्ध जर्जर अवसाद !

मौन ! नाश ! विध्वंस ! अंधेरा
शून्य बना जो प्रकट अभाव
वही सत्य है, अरी अमरते !
तुझ को यहाँ कहाँ अब ठाँव !
मृत्यु, अरी चिर-निद्रे ! तेरा

अंक हिमानी सा शीतल ।
तू अनन्त में लहर बनाती
काल-जलधि की सी हलचल ।

ऊपर की कविता में जीवन तथा मृत्यु का दार्शनिक दृष्टिकोण बड़े ही रोचक शब्दों में व्यक्त है। कवि का ज्ञान जीवन और मृत्यु के अकाट्य और अनिवार्य तथ्यों का ख़ूब मनन कर चुका है और जानता है कि—

देव न थे हम और नये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले ।

वास्तव में परिवर्तनशीलता विश्व-जीवन का आधार है।

यह कहा जा चुका है कि 'कामायनी' एक पूर्ण महाकाव्य है। उसका प्रत्येक पद एक निगूढ़ता, सूक्ष्मता तथा अनुभूति से पूर्ण है। इसमें मनुष्य की उन सभी परिस्थितियों का नियमित निदर्शन है जो मनुष्य को ससार के नाना घात-प्रतिघातों में पड़कर भोगनी पड़ती है। इसके भीतर मानवता की व्यापक बनने की कामना का सुन्दर तथा गम्भीर रहस्य छिपा है, अर्थात् "कामायनी" ने सारे मानव-जीवन को परिवेष्टित कर लिया है। मानव-हृदय के अगाध सागर में पैठने वाले कवियों में प्रसाद जी अग्रगण्य हैं और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में 'कामायनी' अद्वितीय है, क्योंकि उसमें मानव मन की गहनतम अनुभूतियों का बड़ा ही मार्मिकता से स्पष्टीकरण है जिससे हम सहज ही जीवन की आध्यात्मिकता का स्पर्श कर लेते हैं—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान;
यही दुख-सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

जीवन का यह कटु सत्य जानते हुए भी कवि निराश नहीं हुआ। उसे अपनी जीत की आकांक्षा और उत्कण्ठा है—

डरो मत अरे अमृत सन्तान!
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

कितना बड़ा आश्वासन है, साहस है और कितना दृढ़ विश्वास है! जो आगे की पंक्तियों से और भी स्पष्ट हो जाता है।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार!
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

इस मंगल-कामना की अनुभूति की पीड़ा का भी अनुभव हमें 'प्रसाद'

की कविता में मिलता है। इस स्थिति का भी चित्र बड़ा साफ़ सामने आता है और यही जीवन की वास्तविकता है—

जीवन निशीथ के अन्धकार!

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार
यौवन मधुवन की कालिंदी बह रही चूम कर सब दिगन्त
मन शिशु की क्रीडा नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त
कुहुकि न! अपलक दृग के अंजन हँसती तुझमें सुन्दर छलना
धूमिल रेखाओं से सजीव चंचल चित्रों की नव कलना
इस चिर-प्रवास श्यामल पथ में छाई पिक प्राणों की पुकार

बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार

जीवन की दोनों राग-विरागमयी प्रवृत्तियों का उत्थान-पतन बड़े ही मार्मिक एवं बौद्धिक रूप से किया गया है। 'प्रसाद' के जीवन विवेचन में यह बड़े तथ्य की बात है कि वे उसकी रचना का निर्माण तथा अस्तित्व दोनों ही हृदय और बुद्धि के समन्वय से ही मानते हैं। तभी वे कहते हैं—

रुदन हास बन किन्तु पलक में छलक रहे हैं,
शत-शत प्राण विमुक्त खोजते ललक रहे हैं।

किन्तु

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।

कितनी मार्मिक प्रेरणा है! जीवन का एक-एक क्षण उपयोग करने की कितनी घनी ध्वनि है! इसी तरह के अनेक पदों में हम 'प्रसाद' के जीवन सम्बन्धी विचारों की सांकेतिक सूचना पाते हैं।

हम देखते हैं कि 'कामायनी' के कवि ने सृष्टि तथा जीवन-सत्य की चिरन्तन धारा के साथ मानव का बड़ा ही सावधान सम्बन्ध स्थापित किया है और सम्भवतः इसीलिए वह मानवता के माध्यम से ही कला का चिर सत्य तथा चिर शिव एवं चिर सुन्दर रूप हमारे सामने रख सके हैं। उन्होंने कहीं भी देवत्व की आशा में मानवत्व की उपेक्षा नहीं की, वरन् मानवत्व का विकास कर के देवत्व का रूप दिया है।

जीवन के इस वैचित्र्यपूर्ण विवेचन के साथ-साथ 'प्रसाद' ने काव्योचित सौंदर्य तथा माधुर्य एवं भावों का बड़ा ही सुन्दर सम्मेलन किया है।

'प्रसाद' का सौंदर्य-बोध साहित्य-रसिकों के सामने इतने सजीव और समूत रूप में आता है कि उसका प्रत्यक्ष दर्शन सा मिलने लगता है—

केतकी गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिए देह।
कटि में लिपटा था नवल वसन
वैसा ही हलका बुना नील

इसी तरह माधुर्य के 'प्रसाद' मास्टर हैं। उपमा के आचार्य तो हैं ही—

> खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
> अलस चेतना की आँखें;
> हृदय कुसुम की खिली अचानक
> मधु से वे भीगी पाँखें।

किस मधुरिमा के साथ उपमा की मधु-माधुरी का वर्णन है। 'प्रसाद' ने आँखों की उपमा कुसुम-पाँखों से देकर आँखों का सौंदर्य बढ़ा दिया है, साथ ही, चूंकि आँखें अलस चेतनामय हैं, अतएव पाँखों को भी मधुमय करके बड़ी ही कोमल भावाभिव्यक्ति की है। किन्तु सब से सुन्दर तो कवि की यह सूझ है कि उसने साधारण कवियों की भाँति नेत्र-कमल नहीं कहा। क्यों? क्योंकि आँखें बड़ी होने पर भी कमल की पाँखों से छोटी ही रहती हैं किन्तु कुसुम-पाँखों की समानता से हृदय का नेत्रों में विस्फुरण साकार हो गया है।

मेरा तो अपना अनुभव तथा विचार एव विश्वास है कि हमें 'कामायनी' पढ़ कर प्रसाद जी के ही शब्दों में यह आनन्द मिलता है—

> वल्लरियाँ नृत्य निरत थीं
> बिखरीं सुगन्ध की लहरें।

× × ×

संगीत मनोहर उठता
मुरली बजती जीवन की,
संकेत कामना बन कर
बतलाती दिशा मिलन की

यह आनन्द स्वार्थपूर्ण नहीं है, क्योंकि—

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी ने 'कामायनी' लिखकर विश्वसाहित्याकाश को अपनी पावन प्रतिभा के प्रकाश से उद्भासित कर दिया है। उनका यह आलोक अमरता का अधिकारी है।

———

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सभ्यता और शिक्षा के विकास-क्रम से मनुष्य 'अहम्' को संकुचित भावनाओं का त्याग कर 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के व्यापक सिद्धान्त के प्रतिपादन की ओर अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करता है। जीवन के विविध अवयवों के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् उसे इस तथ्य का पूर्णरूपेण ज्ञान हो जाता है कि जीवन का एक मात्र उद्देश्य उदरपूर्ति ही नहीं किन्तु 'कुछ और' भी है। इसी 'कुछ और' की ओर मनुष्य द्रुतगति से अग्रसर होता है, किन्तु अनवरत परिश्रम तथा चेष्टा के पश्चात् भी उसे इस 'कुछ और' की एक मात्र धुँधली अस्पष्ट-सी रेखा ही क्षितिज के एक कोने में दिखाई पड़ती है। अपनी असफलता तथा असमर्थता से विवश होकर मनुष्य अपने हृदय में कुढ़ कुढ कर व्यथा-सागर की उत्तप्त तरंगों में तरंगित होने लगता है। जब वह विवशता की चरम-सीमा पर पहुँच जाता है, तब अपने भावों को, भाषा का आश्रय लेकर, प्रकाश में लाता है। इन्हीं हृदय-स्थित भावों की अभिव्यंजना ही साहित्य है।

संसार की प्रत्येक भाषा में साहित्य का यही आदर्श माना गया है। परन्तु इस प्रकृति-सौन्दर्य प्रधान पुरातन भारत की देश-गत और जाति-गत विशेषताओं ने इस आदर्श में जिस अपूर्व सौरभ का संचार किया है, वह वास्तव में अलौकिक है। आदि-काल से ही भारत के

कवि प्रकृति और तज्जनित भावों तथा विचारों को अपनी राग-रागि-नियों में मिश्रित करते आये हैं। सच तो यह है कि भारत में प्रकृति की उपेक्षा विश्व की एक असाधारण घटना-सी प्रतीत होगी। इसी प्राकृतिक सुषमा में उस अलौकिक विधायक का प्रतिबिंब प्रत्येक सहृदय को दृष्टिगोचर होता है और फलस्वरूप मनुष्य विहग-बालि-काओं की तरह इस 'रविशशिपोषित' पृथ्वी से ऊपर उड़ कर उसके मूल स्थान की ओर जाने की आकांक्षा करता है और इस नैसर्गिक-भावना की विशेष प्रबलता के कारण ही भारतीय-साहित्य में आध्यात्मिक भावों की अत्यधिक प्रचुरता है। भारतीय साहित्य की इन्हीं विशेष-ताओं का आश्रय ग्रहण कर हमारे कलाकार अपनी सरस और सुन्दर वाणी में अपना सन्देश सुनाते आये हैं।

हिन्दी-कविता के इतिहास में भी हम इसी तथ्य का दर्शन करते हैं। आदि-काल से वर्तमान काल तक हिन्दी-कविता की जो परम्परा चली, उसमें इन विशेषताओं की प्रचुरता की कमी नहीं। वीरगाथा-काल, भक्ति-काल और रीतिकाल—तीनों युगों में हमारे कवि 'गायन्ति देवाः किलगीतकानि' वाले भारतवर्ष के आदर्श को विभिन्न आवरणों में सुरक्षित रखते आये हैं। यद्यपि भक्ति-युग के पश्चात् हमारी कला मे 'नवाबी महलों' और 'आमोल्लास' दरबार के निकृष्ट विलास तथा वासना की प्रचुरता है, तथापि हमारी संस्कृति और सभ्यता का एकदम लोप नहीं हो पाया। काल-क्रम से गत रीति का युग समाप्त हुआ। भारत के टिमटिमाते दीपक में जीवन-स्नेह का सचार हुआ, हमारी भूली हुई कला भी नवजीवन के साथ लौट आयी और इसी के समु-

चित विकास का फल है कि आज हिंदी-काव्य-उपवन की डाली-डाली लाल-लाल तरुण कोमल कलियों से सुशोभित है। आज इस उपवन के अलौकिक सौरभ का प्रचार दिग्-दिगन्त-व्यापी हो रहा है। हमारे इस नन्दनवन की अद्भुत आभा और इसके अलौकिक सौरभ से गौरव-गरिमा बढ़ानेवाले इने-गिने सुन्दर और सरस पुष्पों में एक 'निराला' भी हैं।

उनका स्थान हमारे साहित्याकाश में बहुत ही महत्व और गौरव का है। 'निराला' के कवि ने एक बार भावावेश में बहुत ही सरस और सुन्दर गान गाया था—

जग को ज्योतिर्मय कर दो।

प्रिय कोमल-पद-गामिनि मन्द उतर,
जीवनमृत तरु तृण गुल्मों की पृथ्वी पर,
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो।

प्रयाग में मेरे एक मित्र इस गीत को बहुत गाते थे। इसके प्रकृति-सौन्दर्य ने उन दिनों ही मुझे इस गीत के प्रणेता की ओर आकर्षित कर लिया था, परन्तु मस्तिष्क की अत्यधिक निर्बलता के कारण तब मैंने इस गीत-प्रणेता को समझने में अपने को बहुत ही असमर्थ पाया। आज बहुत दिनों के पश्चात् मुझे कवि की उपर्युक्त पंक्तियों में केवल आनन्द ही नहीं मिलता, प्रत्युत कवि के कवित्व का सार-तत्त्व भी इसमें निहित-सा दृष्टिगत होता है।

श्री कृष्णशंकर शुक्लजी ने अपने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'निराला' को 'मस्तिष्क से अद्वैतवादी पर हृदय से भक्त तथा प्रेम-वादी' बताया है। मस्तिष्क का शुष्क अद्वैतवाद हृदय की सरस भावनाओं का सहयोग पा कर रहस्यवाद बन जाता है—'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाश है जिससे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहता है।' आत्मा और परमात्मा का क्रम से इतनें इतना सम्बन्ध जुट जाता है कि दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रह जाता। दोनों अन्योन्याश्रित हो जाते हैं, एक की छाया दूसरे में पड़ने लगती है; यही शायद छायावाद है।

'कहे कबीर हरिदरस दिखाओ,
हमहिं बुलाओ कि तुम चलि आवो।'

श्री रामकुमार वर्मा ने अपने कबीर के रहस्यवाद में एक स्थल पर लिखा है—"रहस्यवाद की अभिव्यक्ति तभी होती है जब आत्मा प्रेम की अमूल्य निधि लिए हुए परमात्मा में अपना विस्तार करती है।" श्री रवीन्द्र ने तो अपनी 'आवर्तन' शीर्षक कविता में परमात्मा को ही आत्मा से मिलने को उत्सुक बताया है—'निराला' भी इसी मत के पोषक प्रतीत होते हैं और उनके 'परिमल' की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में के इसी सुन्दर तथा सूक्ष्म-दर्शन तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु परिवर्तनशील संसार की मृग-मरीचिका में उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं, उनका कवि प्रेम-वादी और भक्त होने के नाते भक्त बनने में ही अपना सौभाग्य समझता है और सत्य

भी है, "सुरभित गुलाब के सौरभ की सफलता गुणग्राही द्वारा उपभुक्त होने ही में है।"

उपर्युक्त गीत में यही ध्वनि व्यजित है और 'निराला' के अधिकाश गीतों में इसी भावना का प्राधान्य है। यही कारण है कि 'निराला' में हम शुष्क अद्वैतवाद को नहीं पाते किन्तु साधारणतः उनकी कविताओं में हृदय की सुकुमारता ही गोचर होती है।

'निराला' जीवन के विविध अवयवों पर अपना दृष्टिपात करते हैं और लिखते भी हैं, परन्तु वेदान्त उनके काव्य का श्रेष्ठ और मुख्य विषय है। 'निराला' वंग-देश की शस्य-श्यामला भूमि में रहे हैं। शिशुता के स्वर्गीय दिवस उन्होंने वहीं के नारिकेल और रम्भा के कुञ्जों में व्यतीत किये हैं, फिर वग देश की तत्कालीन कविता-परम्परा की इन पर भला छाप क्यों न पड़ती ? श्री रामकृष्ण-मठ से स्वामी सर्वदानन्द की देख-रेख में प्रकाशित होनेवाले 'समन्वय' का सम्पादन करते समय कवि की प्रतिभा का अच्छा प्रस्फुटन हुआ। यही कारण है कि निरालाजी अपनी कविता में दर्शन और करुणा का अनुपम सम्मिश्रण कर देते हैं तथा वेदान्त की भी बड़ी सुन्दर छाप लगा देते हैं। उनकी 'शक्ति', देखिए—

चाहिए कितने तुमको हार ?
कर—मेखला मुण्ड मालाओं से—
बन जन मन अभिरामा,
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

❀ ❀ ❀

तुम हो अखिल विश्व में
या यह अखिल विश्व है तुम में
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक।

'परिमल'

जिन लोगों को 'निराला' के व्यक्तिगत-सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे हमारे इस कथन की सत्यता को स्वीकार करेंगे कि उनके जीवन के रग-रग में दार्शनिकता का पुट है। मेरे एक मित्र उनके प्रथम दर्शन से ही बहुत प्रभावित हो गये थे। तात्पर्य यह कि निरालाजी बहुत ही भव्य और प्रिय-दर्शन तथा कोमल स्वभाव के हैं। वे दर्शन-शास्त्र के गम्भीर विवेचक हैं और कबीर, दादू, घनानन्द तथा रामतीर्थ के पश्चात् हिन्दी में इस क्षेत्र में केवल इन्हीं का नाम लिया जायगा। इस समय हमको यह भूलना नहीं चाहिए कि ये मस्तिष्क से अद्वैतवादी, परन्तु हृदय से सच्चे कवि हैं, 'भिक्षुक', 'दीन', 'संध्या' 'यमुना' आदि कविताओं में हम इनके हृदय के उत्कर्ष को स्पष्ट देख सकते हैं। वास्तव में 'निराला' के दर्शन का उत्कर्ष इतना विस्तृत और उच्च है कि इन्हें कवि के अतिरिक्त दार्शनिक भी कहा जा सकता है। निस्सन्देह हमें निरालाजी की दार्शनिकता का गर्व है। इस विषय का भू-भाग कुछ इतना विस्तृत है कि इसकी उलझी हुई ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए एक प्रौढ़ लेखनी, अवकाश और मननशीलता की आवश्यकता है। हमारी निर्बल लेखनी की तो बात ही दूर। अतः, हम संसार के लघुमानव 'निराला

के इस दार्शनिकतामय जीवन की सुख-दुःख और धूप-छाँह वाली विवेचना की ओर दृष्टिपात करें। जब हम 'निराला' की कविता-कामिनी का क्रीड़ा-कलरव साध्य उषा के गगन में सुनते हैं, उसकी बालचापल्य-सुलभ अठखेलियाँ देखते हैं, तब हृदय-वल्लरी प्रस्फुटित हो उठती है।

श्रीगणेशायनमः करते ही—

बैठ लें कुछ देर

सरल अति स्वच्छन्द

जीवन-प्रात के लघु-पात से

उत्थान–पतनाघात से

रह जाय चुप निर्द्वन्द।

इन पंक्तियों में देखिए निरालाजी ने कितनी ऊँची कला का परिचय दिया है। कलाकार का कार्य बड़ा दुस्तर और गहन होता है। तूलिका के साथ ही साथ रंग आदि मूर्ति-आधारों का भी ध्यान रखना पड़ता है। निराला ने इन पंक्तियों में जीवन की जिस दार्शनिकता की गम्भीर विवेचना की है, उसका अनुमान सहृदय पाठक ही लगा सकते हैं। 'निराला' भी इस संसार में मानव-जीवन 'चिर-हास अश्रुमय' मानते हैं। वास्तव में धूप-छाँह के इस जग में सुख-दुःख दोनों का बराबर भाग है। निर्बल और निर्बोध मन सुख-दुःख की तीव्र चोट खाते हुए जीवन से उदास हो जाता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष इस तथ्य को भली-भाँति जानता है कि—

हाँसी खेले हरि मिले, तो कौन सहै खड़सान।

नानक ने एक बार इन्हीं भावों से ओत-प्रोत होकर गाया था—

जो नर दुख में दुख नहिं माने

सुख सनेह अरु भय नहिं जा को कंचन माटी जाने।

वही मनुष्य—

नानक लीन भयो गोविंद सों ज्यों, पानी से पानी।

'निराला' को भी सम्भवतः जीवन में आर्थिक सङ्कट से लेकर मानसिक-सङ्कट तक का विषम भार झेलना पड़ा है। अतः, निराशा की ओर झुकना उनका स्वाभाविक कार्य है किंतु गम्भीर पाठक जानते हैं कि 'निराला' दुःख के अस्तित्व को मानते हुए भी आशावादी हैं। वे पतझड़ से एक अविवेचक की तरह उद्विग्न नहीं हो उठते। उनका बाल-बसंत तो पतझड़ ही में लुप्त है। 'सुधा' में प्रकाशित उनकी 'सरोज-स्मृति' नामक कविता से हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। 'परिमल' की एक कविता में उनकी आशा का उत्कर्ष देखने ही योग्य है—

अभी न होगा मेरा अन्त

अभी-अभी ही तो आया है

मेरे वन में मृदुल वसन्त

... ...

मेरे ही अविकसित राग से

विकसित होगा बन्धु, दिगन्त

हाँ, 'निराला' संसार से कभी-कभी क्षुब्ध अवश्य हो उठते हैं।

'परिमल' की 'कविते' शीर्षक गीत की अन्तिम पंक्तियों में यही ध्वनि व्यंजित है—

तुम चलो बुलाया है उसने तुमको जल्दी उस पार।

'निराला' ने प्रेम सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं, परन्तु इनके प्रेम का पयोधि सदा निस्सीम भू पर उमड़ता है और प्रेम के इस विमल मकरन्द-पान करने का स्वर्ण सौभाग्य भी अलौकिक शक्ति-सम्पन्न पुरुषों को ही है। इस प्रेम की परम सार्थकता तभी है जब दोनों, आश्रय तथा आलम्बन अपने-अपने अस्तित्व का अलग अनुभव करते हुए भी एक ही रागात्मक सूत्र में गुँथ जायँ। यही प्रेम की, भक्ति की, चरम-सीमा है। 'तलवार की धार पै धावनो' वाला प्रेम-पथ कभी सरल और सहजगम्य हो ही नहीं सकता। कबीर को भी इसका ऐसा ही विकट अनुभव हुआ था—

कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
शीश काट आगे धरे तब पहुँचे यहि माहिं॥

उस तरह 'निराला' के प्रेम-पथ पर भी—

'बिछे हुए थे काँटे उन गलियों में
जिन से मैं चल कर आयी
पैरों में छिद जाते जब
आह मार मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी यही पगदशर्शायी।

'निराला' की इसी प्रेमाभिव्यंजना में जिस सुन्दर और संयत शृंगार का विकास हुआ है, वह उनका का अपना है। हिंदी तो क्या, अन्य

भाषाओं के महाकवियों में भी ढूँढने पर ही ऐसे एक-आध स्थल देख पड़ेंगे—

निशा के उर की खुली कली
मूँद पलक प्रिय की शय्या पर
रखते ही पग डर थर-थर-थर
काँप उठी वन में तरु मर्मर
चली पवन पहली।

संध्या में दूर नदी पर एक नौका है, उसमें एक तरुणी बैठी है, अस्ताचल-पट-आच्छादित रवि के अन्तिम किरणदान को देखिए—

ऊपर शोभित मेघ छत्र सित
नीचे अमित नील जल दोलित
ध्यान-नयन-मन चिन्त्य प्राण-धन
किया शेष रवि ने कर अर्पण।

'निराला' की यह अपनी कला है। इसी के कारण हिन्दी के सर्वोच्च कवियों में उनका स्थान है। कला के इस उत्कर्ष का निरूपण 'निराला' ने पग-पग पर किया है, परन्तु अन्य महा-कवियों में यह कला ढूँढने पर ही मिलेगी। 'निराला' एक कुशल शब्द-चित्रकार भी हैं यद्यपि पन्त की 'छाया' नामक कविता में भी कल्पना और शब्द-चित्रण की सीमा-सी प्राप्त हो गयी है, तथापि 'निराला' की निम्न पंक्तियों का विशेषत्व हिंदी-काव्य-साहित्य में बेजोड़ है।

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी-सी
धीरे—धीरे—धीरे,
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर' ।

'भिखारी' और 'दीन' के चित्रण को देख कर यह सदेह होता है कि शायद ही कोई चित्रकार अपनी तूलिका और रग से ऐसा सुन्दर चित्रण कर सके। 'निराला' में हमारे काव्य-उपवन की जिस विमल श्री का विकास हुआ है उसका सम्यक् वर्णन इस साधारण लेखनी का काम नहीं। मैंने उनकी जो प्रधान विशेषताएँ समझी हैं, उनकी ओर केवल सकेत मात्र किया है। यह सहृदय पाठकों का कर्तव्य है कि वे 'निराला' की निराली कला की विमल-मकरन्द-श्री को पान करने के लिए उनके 'परिमल'—सुवासित उपवन में रमण करें।

'निराला' के मुक्त छन्द पर भी एक दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि हमारे कुछ संकीर्ण-हृदय साहित्य-शास्त्री 'निराला' के इस छन्द का उदाहरण देकर उन्हें साधारण कवि मानते हैं। यह उनकी नासमझी का प्रतीक है। हमारा तो विश्वास है कि 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'जागरण', और 'पचवटी'-प्रसग में कवि को जो सफलता मिली है और जिस सुन्दर वीर रस का समावेश हुआ है, उसका अधिकाश श्रेय उनके 'चींटियों से टेढ़े-मेढ़े' छन्दों को ही है। उनकी—'विजन वन-वल्लरी', को कौन नहीं जानता।

'निराला' हमारे काव्योपवन के वह फलित कोमल गुलाब हैं जिसके सौरभ के प्रसार से हमारे उपवन में मधुमऋतु-ज्वाल फैल उठी है। उन्हीं के शब्दों में गुलाब में काँटे भी होते हैं, परन्तु इस गुलाब के काँटों का निरीक्षण हमारा काम नहीं। हमने 'निराला' को प्रशसक की दृष्टि से पढ़ा है और हमारा विश्वास है कि इस दृष्टिकोण से पढ़ने से ही 'निराला' के काव्य-रस का हम उपभोग कर सकते हैं। 'निराला' की सर्वतोमुखी प्रतिमा है। वे जैसे उच्च-कोटि के कवि हैं वैसे ही उच्च-कोटि के उपन्यासकार, कहानी-लेखक, दार्शनिक, समालोचक और प्रबंध-लेखक भी हैं, तभी तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि आपका जैसा प्रौढ मस्तिष्क आज हिन्दी में बहुत कम विद्वानों का है। चूँकि हृदय और मस्तिष्क का मधुर समन्वय ही कला का आधार है, इसीलिए 'निराला' एक चतुर कलाकार हैं। 'निराला' का स्वास्थ्य ही उनके मानसिक और शारीरिक सौंदर्य तथा पुष्टि का प्रत्यक्ष प्रमाण है। चाहे आज 'निराला' का मधुर स्वर आस-पास के ससार से मिलता भले ही न हो, परन्तु वह अति सुकुमार और मीठा है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। सत् कवि का सम्मान सदैव कुछ देर से हुआ करता है क्योंकि वह इस ससार का पथ-प्रदर्शन करते हुए परलोक-मार्ग को भी खोजने का प्रयत्न करता है, इसी में उसके विचारों की विशदता और दृष्टि की व्यापकता निहित है। निरालाजी ऐसे कविवर इस बात को जानते हैं कि केवल इस नश्वर ससार का गुणगान करना ही सत् काव्य नहीं है। सत् काव्य में हमें चिर सत्य की खोज अवश्य करनी

पड़ेगी, तभी हमारा और हमारे काव्य का कल्याण होगा। 'निराला' वर्तमान कविता में इसी अभाव की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं। हम उनके इस महान् उद्देश्य को चाहे जो समझ लें, यह हमारी गुण-ग्राहिता पर निर्भर है। परन्तु अपनी अपूर्णताओं के कारण क्या हम स्रष्टा को अपूर्ण समझ सकते हैं ?

यदि हम आज भौतिक अभावों की वेदना से 'निराला' की आध्या-त्मिक विकलता न समझें तो दोष हमारा है। क्योंकि वेदों का सूखा निर्गुणवाद 'निराला' ने अपनी निपुण लेखनी से बहुत ही सरस, सरल और बोधगम्य बना दिया है। हमें ऐसे चतुर दार्शनिक कवियों की अति आवश्यकता है। अस्तु।

'निराला' का सम्मान बड़े उत्साह और श्रद्धा के साथ करना चाहिए। उनकी उपेक्षा करना पैरों पर कुल्हाड़ी मारने से भी कुछ अधिक होगा। वे हमारे साहित्य-संसार के एक अनूठे और मूल्यवान हीरे हैं। उनसे आज हमारा साहित्य और देश गौरवान्वित है। निरालाजी की काव्य-कला का एक अपना और ऊँचा आदर्श है। हृदय की अनुभूति का यथातथ्य-चित्रण निरालाजी का ही निराला-पन है।

सुमित्रानंदन 'पन्त'

जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है, तो साहित्य उसके सहित। इसी कारण साहित्य का महत्व जीवन से अधिक और स्थायी है। काव्य-कला साहित्य का एक प्रधान और अत्यधिक आनन्दमय अंग है। कवि अपनी भावनाएँ और इच्छाएँ इसी काव्य-सकेत से ससार के सामने रखता है। इसीसे काव्य-कला सदैव सबके लिए आनन्दमय होती है। यों तो किसी भी कला-वस्तु पर दृष्टिपात किया जाय, वह सौन्दर्य के आश्रित है, और बिना सौन्दर्य के यह सारा संसार ही, जो ईश्वर की कला का कमनीय रूप है, फीका-सा जान पड़ता है; किन्तु विशेष कर काव्य-कला का प्राण सौन्दर्य ही है। क्योंकि कलाकार सौन्दर्य के भावावेश के बिना कला की रचना नहीं कर सकता, और यदि करे भी तो वह मनोमुग्धकारी नहीं होगी।

वास्तव में कला वही है, जो जीवन को सौन्दर्य-पूर्ण कर दे और अपनी कमनीयता से, सुकुमारता से और स्निग्धता से सब जीवों को ओत-प्रोत कर दे। कला में सौन्दर्य का इतना महत्त्व होते हुए भी हमें इस बात को न भूलना चाहिए कि सौन्दर्य का शिव और सत्य के साथ चिरन्तन नाता है, अन्यथा वह सौन्दर्य नहीं है। क्योंकि जो सौन्दर्य मंगलमय नहीं है, उससे केवल आँखों को क्षणिक सुख मिल सकता है; किन्तु उसके वर्णन में कवि की कला निखरती नहीं, न

उसमें कल्पना की तरंगें और न भावों का वह प्रदर्शन ही रहता, जिनसे मनुष्य पार्थिवता से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता की ओर पहुँच पाता है। इस सर्वांग-सुन्दर की प्राप्ति के लिए साधना की, तपस्या की और तन्मयता की आवश्यकता होती है। क्योंकि आत्मा बिना तपे खरी नहीं होती। हाँ, तो सौन्दर्य कविता का रूप और प्रेम उसका प्राण है। इस सौन्दर्योपासना तथा प्रेमोपासना की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न देश, काल तथा रुचि के कवियों ने भिन्न-भिन्न रूपों से की है। आज खड़ी बोली के नवीन तथा सुकुमार प्रकृति-प्रधान कवि सुमित्रानन्दन पन्त प्रकृति-छवि से मुग्ध होकर अपने को उस परम सौन्दर्य की ओर ले गए हैं, और उसी की उपासना का संकेत उन्होंने भिन्न-भिन्न रूपों से किया है।

पन्त ने प्रकृति-सौन्दर्य की सुकुमार भावना का हिन्दी-संसार में बड़ा ही सुन्दर सृजन किया है। उन्होंने अन्तर और बाह्य प्रकृति का, सुषमा-सौन्दर्य तथा रूप को बड़ी ही दिव्यदृष्टि से देखा है। उनके लिए ऐसा होना भी स्वाभाविक है।

पन्त का कवि प्रकृति की पावन गोद में पला है, प्रकृति ने ही उसे कवि बनाया है। प्रकृति से ही उसने अपनी कविताओं के लिए सामग्री ली है, और प्रकृति के ही सुन्दर और विस्तृत प्रांगण में उसकी अधिकांश कविताएँ लिखी गई हैं। यही कारण है कि पन्त की कविताएँ सरस और संगीतमय हैं।

यों तो किसी भी भावुक कवि की वे सभी कृतियाँ, जिनमें उसके हृदय का दुलार तथा मन की मिठास मिली रहती है, सबको परम

प्रिय मालूम होती हैं; किन्तु प्रत्येक कवि का अपना रस तथा अपनी एक विशेपता होती है। पन्त ने प्रकृति में ही मानव-जीवन की अनन्त धाराओं का सजीव दर्शन पाया है, और उसकी ओर समय-समय पर बड़े सुन्दर सकेत किए हैं। इससे पता चलता है कि प्रकृति इतनी विशाल होते हुए भी मनुष्य के कोमल-से-कोमल भावों की उद्दीपक बन जाती है। जिस ईश्वर ने मनुष्य की रचना की है, उसीने मनुष्य के खेल-कूद और विकास के लिए एक सुन्दर प्रकृति की गोद का निर्माण किया है। स्निग्ध श्याम मेघ-मालाएँ, शीतल शशि का सहज प्यार, हीरक मणियों के समान झिलमिलाती तारावलियों का सौन्दर्य तथा सागर की लोल-लहरियों का उत्थान-पतन किस नीरस मन को भी मुग्ध नहीं कर लेता!

जब हम इन सभी प्राकृतिक सौन्दर्यों में अपने मन के भावों की छाया देखते हैं और प्रकृति के साथ एक अनुपम अनुकूलता का अनुभव करते हैं, तब मन उल्लास से भर जाता है। पन्त की प्रकृति-सहचरी यह कविता बहुत ही सुदर है :—

अरे ए पल्लव बाल!
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल
नहीं छूटी तरु-डाल,
विश्वपर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल!

कविता की आत्मा वस्तुतः भावनाओं को सगठित और स्वाभाविक रूप से चित्रित करने की शक्ति है। यहाँ पर पन्त का कवि प्रकृति का सफल चित्रकार हो गया है—

आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास,
मुग्ध होंगे मधु से मधुवाल,
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश।

और तो और, प्रकृति का वाह्य रूप व्यक्त करने में भी पन्त ने सप्राणता भर दी है—

वन के विटपों की डाल-डाल,
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप-ज्वाल;

× × ×

अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास—

इस तरह पन्त ने जहाँ-जहाँ प्रकृति-चित्रण किया है, तहाँ-तहाँ उनके वर्णन का एक अनोखापन है, और कहीं-कहीं तो उनका चित्रण इतना सजीव हो गया है कि दृश्य का प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है। जैसे—

पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश;
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल!

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का हृदय प्रकृति की आत्मा से हिल-मिल गया है। प्रकृति में जीवन के भिन्न-भिन्न मनोभावों का चित्रण ही पन्त की अमर कृति है। यद्यपि इन चित्रणों से भी अधिक सफलता पन्त को उन चित्रों के चित्रण में मिली है, जिनमें उन्होंने प्रकृति को संकेत (symbol) के रूप में ग्रहण किया है, और प्रकृति को उस अव्यक्त परम शक्ति का रूपान्तर मात्र माना है। उनकी बहुत-सी कविताओं में उस विश्व-आत्मा का संकेत है, जो विश्व के कण-कण में व्याप्त है।

उसी शक्ति का मूक संगीत संसार की रग-रग में रमा है, जिसे कवि सुन पाता है; इसी से पन्त की मनोवृत्ति में प्रकृति साकार हो गई है।

पन्त की इस सूक्ष्म दृष्टि से सौन्दर्य के उस विधायक के प्रति अटल श्रद्धा बन गई है, और वे उसमें ही तन्मय हो गए हैं—

शान्त सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर,
हो उठता चंचल-चंचल।

लहरों के कम्पन में, उतार-चढ़ाव में कवि एक हृदय की आशाओं, अभिलाषाओं का अथवा जीवन के उत्थान-पतन का परिचय पाता है। और कह पड़ता है—

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता—

× × ×

छाया ऐसी निर्जीव वस्तु को भी देखकर पन्त का कवि मुग्ध होकर गा उठता है:—

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि, यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार?

पन्त की अन्य पंक्तियाँ भी इसी भाव की द्योतक हैं। उन्होंने प्रकृति में अपना एक सुन्दर संसार बसाया है और उससे अपने रुचि की सामग्री ले ली है। सारे संसार में एक आत्मा के दर्शन के साथ-साथ पंत ने प्रकृति का इतना सुंदर सामीप्य प्राप्त किया है कि वही प्रकृति भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न 'मूड' में उनके सामने अपने को भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करती और कवि की आत्मा को आश्वासन, दुलार और शांति देती है।

पंत ने इस अलौकिक शक्ति का पुरुष-रूप, स्त्री-रूप तथा सखा-रूप अलग-अलग देखा है। पुरुष-रूप के सामने पंत अपनी सहृदयता, सुकुमारता एवं विचार-कोमलता के साथ शीघ्र एक प्रेयसी के रूप में आत्म-समर्पण कर देते हैं। जैसे—

क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन ?

× × ×

न जाने कौन, अये द्युतिमान,
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख-दुख के सहचर मौन,
नहीं कह सकती तुम हो कौन।

यद्यपि प्रेम की यह अभिव्यक्ति हिंदी-साहित्य के लिए नई नहीं है, तथापि पंत ने इसे एक नया रूप अवश्य दिया है। केवल प्रकृति के आधार पर प्रेम की सुकुमार-से-सुकुमार भावनाओं को व्यक्त करना पन्त की अपनी विशेषता है।

नव-कुसुमों में छिप-छिपकर
जब तुम मधुपान कराओगे,
फूली न समाऊँगी मैं
उस सुख से हे जीवन-धन!

स्त्री-रूप के इस आत्म-समर्पण तथा प्रदर्शन के साथ-साथ पंत का पुरुष भी जागरूक है, और वह प्रकृति को अपनी प्रेयसी के रूप में भी प्यार करता है—

लहरें अधीर सरसी में
तुमको तकतीं उठ-उठकर,
सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि, ठंडी साँसें भर।

× × ×

तुम आओगी आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण,
आओगी अभिलाषा से
चंचल चिर-नव, जीवन-क्षण

× × ×

अधर मर्मरयुत, पुलकित अंग
चूमती चलपद चपल तरंग,
चटकती कलियाँ पा भ्रूभंग
छिटकते तृण तरु पात।
प्राण, तुम लघु-लघु गात।

जन्म से पुरुष होने के नाते पंत की सफलता इस ओर स्वाभाविक है।

प्रकृति के सामने उपर्युक्त दोनों रूपों से जाने की अपेक्षा उनका सखा-रूप मुझे अधिक प्रिय है—

मिले तुम राकापति से आज
पहन मेरे दृग-जल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,
नहीं फिर भी तो आती लाज
निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

× × ×

अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक-एक लिख बात,
किया करते हो जो दिन रात,
बुझाते ही प्रदीप बन वात,
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत
निठुर यह भी कैसा अभिमान ?

पन्त ने कवि और प्रकृति के जिस सम्बन्ध की ओर उपर्युक्त पंक्तियों में संकेत किया है, वह वास्तव में बहुत सरस, सरल और सखा-भाव से प्लावित तथा सुन्दर है। इससे सहज ही में जाना जा सकता है कि शिशु-पन्त प्रकृति को बड़े कौतुक और विस्मय से

देखकर अपनी बाल-चपलता के अनुरूप ही सखा-भाव को लेकर हर्षोल्लास से नाच पड़ा और उसे अपने साथ खेलने वाले सखा-रूप में देखा; युवक पन्त ने प्रकृति को विचारशीलता के साथ आदि शक्ति तथा अलौकिक सौंदर्य की प्रतिभा मानकर अपने को उसके सामने प्रेयसी की ममता लेकर समर्पण कर दिया और प्रौढ़ पन्त ने प्रकृति-प्रेयसी का एक पूर्ण पुरुष-रूप से आलिंगन किया, उनके ये सभी सम्बन्ध भावपूर्ण, अवस्था-युक्त एव विचार-तन्मयतामय हैं।

एक साथ ही एक प्रकृति से पन्त के भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उनकी कल्पना-अस्थिरता तथा भाव-चंचलता के परिचायक हैं। इसीके फलस्वरूप उनके काव्य में एक ही भाव तथा विचार की संगठित भावना कम मिलती है। आगे चलकर कवि प्रकृति के इन नाना रूप-लावण्यों से भी सन्तुष्ट न होकर उसमें जीवन की गति-विधि तथा अन्य दार्शनिक तथ्यों का अवलोकन करता है।

ऐसा होना भी चाहिए, क्योंकि कवि-जीवन की इसी दर्शन-प्रियता तथा सौंदर्य-प्रियता ने ही सत्यं, शिव, सुन्दरम् को जन्म दिया है। दर्शन के दुर्लभ, शुष्क, कर्कश सत्य-शिव को ही काव्य ने सौंदर्य से मिलाकर सुलभ, सरस तथा स्निग्ध बना दिया है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि पन्त के काव्य में जीवन की सभी समस्याओं का सरस समाधान स्पष्टरूप से मिलता है, क्योंकि काव्य तथा दर्शन दोनों के, परमात्मा, आत्मा तथा प्रकृति ही प्राण हैं, जो जीवन में शास्वत शान्ति के दाता हैं। इसी कारण पन्त ने प्रकृति-

चित्रण-सौंदर्य के साथ प्रकृति-दर्शन की दृष्टि से भी उसे अपनाया है, विश्व-जीवन की गति-विधि को प्रकृति के सहयोग से देखा तथा जाना है और कहा भी है—

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

कितना सुन्दर आदर्श है और झाँकी कितनी स्पष्ट है। इसी भावना के कारण भारतीय साहित्य में दुख का दमन नहीं किया गया है, वरन् उसको अंगीकार करके सुख का रूप दिया गया है—

अपने डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

कैसी उदारतापूर्ण भावना है! त्याग की महत्ता इसी में है, सत्य को इसी साहस के साथ प्रकट करना चाहिए, क्योंकि सत्य का संबंध मनुष्य मात्र से है और भ्रम का एक निश्चित समाज और समय से। इसीलिए पन्त जी ने लिखा है—

आती हो जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी?

कितनी ही तो कलियाँ फहरीं,
सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभलीं।

अस्तु—

है लेन-देन ही जग-जीवन
अपने पर सब का अपनापन।

विश्व-जीवन की कितनी मार्मिक ममता है! कदाचित् इसी अपनापन में अदम्य उत्साह और अनन्त जीवन का निगूढ़तम रहस्य अन्तर्हित है। इसकी अभिव्यक्ति पन्त ने ऐसे कुशल और सरस ढग से की है कि उसका प्रभाव सीधे मन पर पड़ता है।

इस धारा-सा ही जग का क्रम
शाश्वत इस जीवन का उद्गम
शाश्वत है गति शाश्वत संगम—

जीवन की यही सच्ची दार्शनिकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त का जीवन के साथ प्रकृति का सम्मिश्रण सोने में सुगन्धि का काम करता है। यही पन्त की कविता का सार-तत्त्व है।

प्रकृति के बाह्य चित्रण की मधुरता में पन्त ने स्पन्दन की अनुभूतिपूर्ण अवस्था का बड़ा ही सफल चित्रण किया है। उनका प्रेम, उनका विषाद, उनकी करुणा, यहाँ तक की उनकी राष्ट्रीयता, अर्थात् उनके सभी चिर-प्रिय विषय प्रकृति के साथ चलते हैं, और इस प्रकार पन्त ने प्रकृति के सहारे मानव-जीवन का पूर्ण निदर्शन किया है और प्रकृति के प्रायः सभी सम्बन्धों तथा रहस्यों

को खोलकर सर्वसाधारण के लिए सहज कर दिया है। पन्तजी प्रकृति के प्रवीण पुरोहित-से जान पड़ते हैं। नीचे लिखी कविता उनकी अद्भुत प्रकृति-प्रेक्षण शक्ति का सजीव उदाहरण है—

हम स्वर्ग-किरण, आलोक-मरण, सुकुमारी,
हम चिर-अदृश्य अप्सरियाँ भू-नभचारी।
छवि की झलकों-सी, स्मित की रेखाओं-सी,
जग-जीवन की झंकारों-सी सुखकारी।

किरणों का यह गान पन्त का ही कवि सुन और समझ सकता है। इन सभी विश्लेषणों से हम पन्त को प्रकृतिमय पाते हैं, और कह सकते हैं कि पन्त की आत्मा ने प्रकृति के साथ एकरूपता का सम्बन्ध जोड़ने के प्रयास में यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। इधर पन्त ने अपनी काव्य-धारा को एक नई दिशा की ओर बहाने की चेष्टा की है। क्षोभ के साथ कहना पड़ता है कि उनकी इस नवीन शैली की कविताओं में (जो "प्रगति-शीलतावादी" कही जा सकती हैं) वे प्रकृति-साधन की अतीन्द्रियता से विमुख होकर 'मांसलता' में डूब से गये हैं। हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-प्रिय पन्त ही अमर रहेगा।

इलाचन्द्र जोशी

जोशी जी का नाम हिन्दी के साहित्य-प्रेमियों से अपरिचित नहीं है। उन्होंने सन् १६ से साहित्य जीवन में प्रवेश किया था। तब से वे बराबर, कहानियों, कविताओं, उपन्यासों और निबन्धों से हिन्दी भाषा का भंडार भरते आये हैं।

उनकी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा स्वाभाविकता एवं वास्तविकता में अपने ढग की अनोखी हैं। कहानियों में जोशी जी के प्राण इस आशाहीन, प्रकाशहीन जीर्ण जगत में तिलमिला से उठे हैं और उन्होंने जीवन का सच्चा रूप अङ्कित करने में बड़े साहस और उत्साह से काम लिया है। इसी कारण वे सचाई का स्निग्ध तथा सौम्य रूप संसार के सामने रख सके हैं, कहीं कहीं तो वे जीवन के तीक्ष्ण और कटु सत्य का बहुत ही सफलता से निदर्शन कर सके हैं। उनकी कहानियों को पढकर यह सहज ही जाना जा सकता है कि उन्होंने जीवन के बीच साहित्य की स्थापना की है।

जोशी जी ने दो उपन्यास भी लिखे हैं। उनके नाम हैं 'परदेशी' और 'सन्यासी', जो क्रम से 'माधुरी' तथा 'विश्वमित्र' में आधे से अधिक छप चुके हैं।

अपने उपन्यासों में वे एक नया आदर्श और एक अभिनव संदेश लेकर आये हैं। हम उनके उपन्यासों में जीवन सघर्ष के निदारुण

हाहाकार की मार्मिक वेदना को स्निग्ध प्रेम के करुण प्लावन के साथ एकाकार हुआ पाते हैं। इस रसायनिक सम्मिश्रण से जिस रस की सृष्टि की जायगी वह सब के लिये मधुर और सुन्दर होगी। अस्तु, यह आश्चर्य की बात नहीं कि जोशी जी के उपन्यासों ने कला के सच्चे पारखियों का सम्मान तथा स्वागत पाया है। उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रत्येक पात्र के यथार्थ चित्रण का विशेष ध्यान रखा है और वे अपने आदर्शों की सृष्टि में क्षण भर को कहीं भूले नहीं, सदा सचेत रहे हैं। उन्होंने अप्रिय तथा प्रिय सत्य दोनों की आत्मानुभूति अभिव्यक्त की है, किन्तु उनकी कला में जीवन की कठोरता के कारण विषाद का समावेश होने पर भी जीवन के प्रति वैराग्य का भाव नहीं आने पाया, वरन् वे जीवन के एक एक क्षण के रस-प्रेमी हैं। उनकी कला निर्मल सूर्य्य की तरह प्रखर अवश्य है और मौलिकता ही उसमें परम सत्य है। उनका एक उग्र आलोचक रूप भी है जिसे उन्होंने अवश्य ही पूर्वीय तथा पाश्चात्य साहित्य के विशाल अध्ययन के फल-स्वरूप पाया होगा, क्योंकि जिस साहित्यिक दर्शन-पूर्ण आलोचना को जोशी जी ने अपनाया है वह विश्व-साहित्य की सम्मिलित श्वासों से ही सप्राण है। जिस समय उन्होंने इस ओर अपनी लेखनी उठाई थी उस समय हिन्दी में इस तरह की विवेकपूर्ण आलोचनाओं का अभाव सा था। कुछ मत-भेद होते हुए भी उनकी आलोचनाओं की सहृदयता तथा सप्राणता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

अचानक उन्हें हम अपने भाई डा० हेमचन्द्र जोशी के साथ एक सुयोग्य संपादक के रूप में पाते हैं। 'विश्वमित्र' तथा 'विश्ववाणी'

का संपादन करते हुए उन्होंने एक नवीन, समयोपयोगी और संसार साहित्य से होड़ लेती हुई सम्पादन कला का निर्वाह किया। उनके संपादन-काल की गति-विधि के ही रूप में आज तक 'विश्वमित्र' मासिक पत्रों में अपनी एक विशेष रूप-रेखा के साथ चल रहा है। किन्तु उनके सब रूपों के बीच उनका कवि रूप ही शिरोमणि है।

कवि की कविता ही उसकी आत्मकथा है। कविता कवि का हृदय है, जो अपने आन्तरिक आनन्द से तथा विगलित विषाद से किलक—पुलक उठता है। कवि के शब्दों का जादू अपनी मोहिनी से प्राणि-मात्र को रस-विभोर कर देता है। कवि स्वयं अपनी भावनाओं की एक दुनिया निर्माण करता हुआ और अपने मनोवेगों की प्रतिध्वनि हृदय में उत्पन्न करता हुआ संसार में अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

इलाचंद्र जोशी एक ऐसे ही विदग्ध तथा आवेगपूर्ण कवि हैं। उनका नाम हिंदी-साहित्य के लिये कोई नया नहीं है, वे समय-समय पर अपनी कविताओं, कहानियों और अन्य प्रकार की साहित्यिक सेवाओं से भारती का भंडार सफलतापूर्वक भरते आ रहे हैं। यह सौभाग्य की बात है कि वे अब भी अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर अभ्युदय कर रहे हैं।

आज वे अपनी एक अमूल्य निधि लेकर हिंदी काव्याकाश में अपने नाम के अनुसार ही एक दीप्तिमान चंद्र की तरह उद्भासित हुए हैं। उनकी कविता-पुस्तक 'विजनवती' में सुंदर और सुलझे

हुए भावों की ललित लड़ियाँ हैं। आपकी भाषा केवल भाव प्रकट कर देने का साधन मात्र नहीं है, बल्कि वह भाव को मूर्तिमान भी कर देती है, इसी में भाषा की सार्थकता है।

जोशी की भाषा में भाव के अनुरूप प्रवाह है और है उपयुक्त शब्दों का उपयुक्त चुनाव, जिनके उच्चारण मात्र से अर्थ की ध्वनि भी आने लगती है। उनकी भाषा वेदना और सूक्ष्म भाव-जन्य मादकता से मिश्रित, सुन्दर, आकर्षक एवं मार्मिक है। उनकी भाषा की बड़ी विशेषता यह है कि वह सरल है, किन्तु गम्भीरता और गतिशीलता को अपनाये हुए है। उसमें सादगी के साथ अनुभव और सवेदनशीलता की गङ्गा-यमुनी है जिसके कारण वह एक अद्भुत सम्मोहन छोड़ जाती है—

कहाँ गई वह कल-कलोलिनी
मुझको बतलायेगा कौन ?
मेरा मधुकर-पुञ्ज-गुञ्जरित
मञ्जुल कुञ्ज आज है मौन।

यह है जोशी की एक कोमलकान्त पदावली। इसमें ही नहीं, बल्कि उनकी सभी कविताओं में प्रेम और करुणा का मनोहारी सम्मिश्रण है, भाव की स्पष्ट मूर्तियाँ हैं और है भाषा का रसोद्रेक— इन्हीं गुणों के कारण आपकी कविताएँ हमारे साहित्य-ससार की विमल विभूति हैं।

साहित्य की सृष्टि विश्वजीवन को स्पष्ट करने और मानव-हृदय में उसकी ममता जगाने के लिए है, इस तथ्य का पता हमें 'विजनवती'

से मिलता है। 'विजनवती' की कविताएँ अपने साथ काव्यक्षेत्र में बहुत-सी नवीनताएँ एवं विशेषताएँ लेकर अवतरित हुई हैं। उनमें चित्र, संगीत, भावुकता, दार्शनिकता और निगूढ़ मनोवैज्ञानिकता का समुचित समावेश है। जोशी जी वेदना के कवि हैं—कैसी वेदना? जिसमे विश्व-जीवन के संघर्षण और दार्शनिक आत्म-दर्शन है, वह वेदना अपने आध्यात्मिक प्रणय-रूपकों द्वारा कलित तथा कवित्वपूर्ण हो गयी है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ऐसा समय आता है, जब उसे अपनी वेदना के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु मधुर नहीं लगती। उसे उसी की ज्वाला में अपने आकुल प्राणों को तपाते रहने में ही परम सुख की अनुभूति हुआ करती है, उसी में एक प्रकार का सजलोज्ज्वल आनन्द प्राप्त होता है। उस समय उसको दुख में ही सुख, विषाद में ही हर्ष, ताप में ही शीतलता तथा मृत्यु में ही जीवन एव विस्मृति में ही स्मृति का अनुपम अनुभव होता है और वह फूट कर गा उठता है—

> इन सब द्वन्द्वों का विलास अब
>
> कर न सकेगा मुझको भ्रान्त,
>
> गहन विजन में मैं बैठा हूँ
>
> एकाकी, विरही, विभ्रान्त।
>
> कभी महाजीवन का मन मे
>
> उमड़ा पड़ता था वेदन,

कभी स्नेह की अति प्रशान्त छवि
हाय जगाती थी चेतन।

यह सब क्यों ? केवल इसलिये कि—

मेरे मानस की कलहंसी
स्वच्छ सलिल कलकंज बिसार,
भर उड़ान चल पड़ी लूटने
महाकाश का विपुल प्रसार।

जोशी जी के सभी रूपक सर्वाङ्ग और पूर्ण हैं। प्रकृति बिखरी प्रभा तथा शोभा से मानवी व्यक्तित्व का निर्माण कर अपने ही पुरुष रूप पर निछावर करा देना, यह उनकी अप एक सुन्दर विशेषता है—

महाविजन से सजनी आयी
प्यारी विजन कुमारी।
नम्र नयन में नील गगन का अञ्जन,
मेरे मन का मान कर रहा भञ्जन;
स्वर्ण-वर्ण-विहरण से हृदय हरण कर
झिलमिल झलकाती है छवि क्या न्यारी ?
चन्द्र-विभासित शुभ्र मेघ शय्या पर
लहराती है बाला।
विधुर अधर के तरुण करुण कम्पन से,
पल-पल पुलकित करती है चुम्बन से,

चुन-चुन ओस-कणों को तरलित घन में
कब मुझको पहनावेगी वनमाला ?

कितनी कोमल कल्पना है, कैसी सुकुमार कामना है ! किन्तु छवि की यह सब विभूतियाँ कवि को केवल इसलिये प्रिय हैं कि कवि स्वयं अपने को नहीं भूला और अपने ही अनन्त अस्तित्व में इन सबकी सीमा का लय समझता है। इस प्रकार 'विजनवती' का कवि कहीं भी आत्म-विस्मृत नहीं है, न प्रकृति के सम्मुख, न काल के सम्मुख और न दुर्धर्ष विश्व के सम्मुख। कवि ने समय, मनुष्य और निसर्ग सब को एक जाज्वल्यमान पुरुषार्थ से, अपने कोमल प्रेम-तन्तुओं से बाँध कर अपना बना लिया है। भौगोलिक दृष्टि से उसने स्वय चन्द्रमा की तरह तापपूर्ण होकर भी विश्व को शीतलता ही दी है अथवा वाड़व के दाह को अपनी जीवनी शक्ति बना कर ही जीवन को सिन्धु की तरह तरङ्गित और विश्व-पुलिन को रसप्लावित किया है। इसीलिये कवि की कविताओं में हम प्रखरता और मृदुता दोनों ही पाते हैं, मानों उनका कवि अर्धनारीश्वर का प्रतिनिधि हो। उसमें कोरी चञ्चलता और कोमलता नहीं है, कारण—जोशी ने कविता-कामिनी को सजी-सजाई नटखट रमणी की अपेक्षा भोली-भाली स्वाभाविकता से भरी वन-कन्या के ही रूप में अपनाया है।

जोशी के कवि ने ससार देखा है, अनुभव किया है। जीवन के सङ्घर्षों के बीच से उनकी कोमल पदावलियाँ पर्वत-प्रान्तर में एक कलकल नादिनी निर्झरिणी के समान फूट निकली हैं और यही उनकी टेक है—

शीतल हिम-जल-कण-जालक से
 विटप करेगा अश्रु निपात।
विहगी करुण विहाग राग से
 दुख रोवेगी सारी रात।
तारक-गण कर निशा जागरण
 भासित कर निज तरलालोक,
करुण करों से थपकी देंगे
 स्निमित नयन से तुम्हें विलोक।

अपनी बहुमुखी प्रतिभा के ही कारण कवि विविध विषय लेकर, उन्हें अपने मनोनुकूल बनाकर उपस्थित करता है। कभी शरत् चाँदनी की ज्योत्स्ना में विहार करता है, कभी शकुन्तला और दमयन्ती को अपने विशेष रङ्ग में रँग कर देखता है, कभी मधुवन के माली के रूप में अपने को रसमग्न कर देता है।

यहाँ तक कि कवि, मृत्यु ऐसी भयङ्कर वस्तु को भी अपनी चिर-उपेक्षित प्रियतमा के रूप में देखता है और उसके आलिङ्गन को उत्सुक-सा दीख पड़ता है—

आज मृत्यु की उत्सवमयी निशा में
 मरने दो मरने दो मुझको माई!
इन्दु-किरण-करुणा से सकल दिशा में
 देखो, कैसी पुलक-वेदना छाई!
नील गगन में फैलाकर निज अँचरा
 गूँथ गूँथ कर तारक-चय का गजरा,

प्यारी मृत्यु बनी है कैसी रुचिरा !
उसकी छवि मम नयनों में अलसाई ॥

मैं तो समझता हूँ कि जोशी की कविताओं में, निराला की परुषता, पन्त की कोमलता तथा महादेवी वर्मा की करुणा आदि सभी गुणों का, स्वतःसृष्ट मौलिक एकत्रीकरण है। उनका कवि किसी भी रस को लेकर उसमें रोचकता, अपनापन और सरसता का सञ्चार कर देता है। उनकी 'नरक-निवासी' कविता में भी उनकी एक विशेष आत्माभिव्यक्ति और एक विशेष दृष्टि-कोण देखने को मिलता है, जिससे पता चलता है कि वे क्रन्दन और विषाद के मर्म में निहित आध्यात्मिक-आनन्द की तरल-तरंगों के रस-अभिसिंचन से अपने को और ससार को प्लावित करने के लिये उत्सुक हैं। वे विह्वल होकर गा उठते हैं—

हे प्यारे मर्त्य-निवासी
मानवगण ! प्रतिदिन तुमको कल कोमल करुण उदासी
करती है पुलकित हिल्लोलित। प्रतिदिन नव-नव आशा
रञ्जित कर देती है बिगलित हिय की तरल पिपासा
किन विचित्र रङ्गों से !

कितनी प्रिय उदासी है! नरक में भी स्वर्गीय कल्पना से आनन्द है, किन्तु उसी नरक के प्रति कवि अपने मन में एक विद्रोह भी रखता है, जिसे वह इन शब्दों में प्रकट करता है—

जन्म जन्म तक निठुर दैव से अब संग्राम छिड़ेगा।
बद्ध हृदय मम अन्ध शक्ति से हो निर्द्वन्द्व भिड़ेगा।

'विजनवती' में जोशी की स्फुट कविताओं का परिपूर्ण संग्रह है। इन कविताओं में छन्दों का आरोह-अवरोह, हृदय का आलोड़न-विलोडन और गहन जीवन का मार्मिक मन्थन इतना सजीव है कि वह जड़ को भी चेतन कर देता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि 'विजनवती' हमारे साहित्य-लोक के लिए एक नई और अभिनन्द-नीय वस्तु होगी। आवरण-पृष्ठ का नन्हा सा सहज रङ्गीन चित्र एक मूक किन्तु गंभीर और ललित भाव का मनोहर द्योतन करता है, जिससे 'विजनवती' का व्यक्तित्व पूर्ण प्रस्फुटित हो गया है, और उस चित्र के समान ही 'विजनवती' का कवि भी हमारे हृदय में घर बना लेता है। हम जोशी जी का इस क्षेत्र में एक साहित्य प्रेमी के नाते स्वागत करते हैं। अभी भविष्य में जोशी जी से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं और हमारा विश्वास है, वे सुन्दर और सत्-साहित्य का सृजन करेंगे।

रामकुमार वर्मा

रामकुमार वर्मा सौन्दर्य तथा करुणा के कवि हैं।

मेरा अपना विचार है कि आत्मानुभूत सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही काव्य का उच्चतम महत्व है, यद्यपि शिव और सत्य की भाँति सौन्दर्य की भी अभी तक कोई सर्वमान्य निश्चित परिभाषा नहीं है। इसका विवाद चिर-अनादि से चला आता है और इसी तथ्य का प्रतिपादन हम अपने नित्य के व्यावहारिक जगत में भी देखते हैं। किसी को कुछ अच्छा लगता है, किसी को कुछ। किन्तु इस रुचि-वैचित्र्य के साथ यह सभी समझदार मानते हैं कि सौन्दर्य-सुषमा, सब के लिये, सदैव के लिये आनन्दमय और कल्याणकारी होती है। पाश्चात्य तथा पूर्वीय सभी कवियों कलाकारों ने इसे माना है। यही कारण है कि सौन्दर्य आज तक संसार में स्थित है। सजल श्यामल आकाश घन, स्वर्णिम प्रभात की उषा-सुषमा तथा कार्तिक की राका-निशि सभी को समान रूप से सुखद हैं, हाँ मनुष्य की विशेष मानसिक स्थिति का प्रभाव इन पर भी अवश्य पड़ता है।

किसी वस्तु का सच्चा रूप तथा गुण वही है जो सब को एक सा प्रतीत हो, क्योंकि यदि किसी रुचि विशेष का प्रभाव संसार की वस्तुओं पर पड़ने लगे तो सारा संसार अव्यवस्थित और अनियमित होकर नष्ट हो जाय।

सौन्दर्य की व्याख्या के साथ हमें तीन प्रकार के सौन्दर्य-दर्शी मिलते हैं।

प्रथम वे जो कहते हैं कि सौन्दर्य वह है जो हमारी रुचि के अनुकूल हो। द्वितीय वे जो कहते हैं कि वह सौन्दर्य है जो हमारी रुचि को बरबस अपनी ओर खींच ले, हमें रिझा ले तथा आकर्षित कर ले। तृतीय वे जो कहते हैं कि सौन्दर्य वह है जो हमारी रुचि तथा वस्तु दोनों के संयोग से प्राप्त होता है।

वास्तव में सौन्दर्य दोनों का केन्द्र है, क्योंकि यदि वस्तु सुन्दर नहीं है तो उसे पसन्द ही कौन करेगा और यदि पसन्द करने की शक्ति ही न होगी तो सौन्दर्य स्पष्ट या प्रकट कैसे होगा? अस्तु यह निश्चय हुआ कि सौन्दर्य रुचि एवं वस्तु के साम्य से ही स्थापित होता है जिसका वर्णन नहीं, केवल अनुभव किया जा सकता है।

इस आनन्द-अनुभव का कारण मनुष्य की प्रकृति से सम्बद्ध है, और मानव-हृदय की रचना ही ऐसी है कि उसे सौन्दर्य से स्वभावतः आनन्द मिलता है।

मनुष्य उपासना, अन्वेषण और चिन्तना द्वारा रुचि तथा वस्तु का साम्य स्थापित कर सकता है और सहज ही में सौन्दर्य-दर्शन का सुख उठा सकता है।

हमारे यहाँ की मूर्ति-पूजा का रहस्य यही सौंदर्योपासना है। जिस प्रकार सौंदर्य-व्याख्या करने वालों के कई दल हैं उसी प्रकार सौंदर्य भी अपने कई रूपों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होता है। शारीरिक सौंदर्य वासना से प्रत्यक्ष होता है, हृद्गम्य सौंदर्य ज्ञान के

द्वारा उपार्जित सहृदयता से, तथा एक तीसरे प्रकार का सौंदर्य रूप भी है जो आत्मानुभूति के साथ हृदय और शरीर दोनों की छाया से प्रकट होता है और जिसका कारण लौकिकता के साथ अलौकिकता स्थापना की प्रबल इच्छा मात्र है।

आज इसी तीसरे प्रकार की सौंदर्य-पिपासा ने ससार साहित्य को प्रभावित कर रखा है, और जिसका फल हिंदी-साहित्य में छायावाद तथा रहस्यवाद है।

जब मनुष्य अपने जीवन के चारों ओर के सघर्ष से ऊब जाता है और अपने चरम लक्ष्य ईश्वर-मिलन की ओर उन्मुख होता है तब उसकी साधना की गति रस की शरण लेती है और वेदना तथा करुणा के सम्मिश्रण से वह रस विशुद्ध होकर पवित्र प्रेम में परिणत हो जाता है। इसी पावन-प्रेम की प्रवृत्ति ने कबीर ऐसे सन्त को भी काव्य की ओर आकर्षित किया था। श्री वर्मा जी का काव्य-धर्म भी इसी सिद्धान्त का पोषक है। कुमार का कवि मानवीय भावनाओं तथा प्रवृत्तियों को विलीन नहीं कर देना चाहता—जैसे—

'पवन चूम जाता है, मेरी इच्छा से परिचित है'

हवा का कली को चूमना मानो कवि की इच्छा मात्र का पूर्ण होना है। किंतु अपनी इस अभिव्यक्ति को कवि क्रमशः आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करना चाहता है और गा उठता है—

'मैंने आज प्रेम की उँगली से
वह चिर छवि छूली,

जिस प्रकार संत वैष्णव कवियों ने अवतारवाद का समादर करके उस परमात्मा तक पहुँचने का साधन मान रक्खा था, उसी प्रकार आज का कवि (विशेषकर रहस्यवादी कवि) आत्म-वाद के सुलभ सोपान से उस लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है—

आओ मेरे, सुन्दर मन में।
मैं कलिका हूँ मिल जाऊँगी
अभी तुम्हारे मृदु गुंजन में।

× ×

रूप गंध का पीकर प्याला,
भूल रही है तितली बाला,
मैं तो लीन हो रही हूँ—
अम्लान तुम्हारे अभिनन्दन में।

कारण कि हम न तो केवल अतीत के ध्यान में मग्न हो सकते हैं और न किसी मानवी रूप-सौन्दर्य पर ही अपनी उपासना सीमित कर सकते हैं। अस्तु, हमारा कवि भी इन दोनों का एकीकरण करना चाहता है।

कुमार का कवि अपनी लौकिक भावों की सरलता से और अलौकिक विश्वास की दृढ़ता से अपनी सौन्दर्य साधना करना चाहता है, क्योंकि यह संसार जिसमें कवि ने जन्म पाया है मानवी है। अस्तु, यह कवि की आत्म-चेतना पर ही अवलम्बित है इसी से उसकी दैवी शक्ति के अनुभव भी उसी के व्यक्तित्व से प्रकट होते हैं।

कवि अपनी मर्यादा तथा बन्धन के ही द्वारा उस सौन्दर्य का दर्शन करता है जो बन्धन-रहित तथा सीमा रहित है, जैसे—

देव, मै अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम मिलन की बात ॥
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढना सीख-सीख कर मेरी
आयु बन गई क्रूर !
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥

ऊपर की कविता से पता चलता है कि हमारे सत्य तथा सौन्दर्य की मात्रा सीमित है और कवि अपनी इस सीमा की उस असीम में स्थापना करना चाहता है। इसके लिये कवि को अपना व्यक्तित्व अनन्त में तन्मय कर देना पडता है और इसी तन्मयता में कवि कह पड़ता है—

मै आज बनूँगा जलद-जाल
मेरी करुणा का वारि सींचता रहे अवनि का अन्तराल ॥
नभ के नीरस मन में महान
बन सरस भावना के समान।
मैं पृथ्वी का उच्छ्वासपूर्ण—
परिचय दूँ बनकर अश्रुमाल

× ×

अपने नव तन को बार बार
नभ में बिखरा दूँ मैं सहास।
यह आत्म-समर्पण करे किन्तु
मेरे जग का जीवन रसाल॥

तन्मयता के साथ आत्म-समर्पण की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति है। विश्व के साथ अपना सामजस्य करके कवि सौन्दर्य और करुणा की व्यापक विभूत को सहज ही अपना लेता है। कवि की अपनी आत्मा के साथ विश्व की यह एकरूपता ही उसकी साहित्य-साधना है।

जीवन के दो रूप हैं एक आत्मा, दूसरा शरीर। मैं समझता हूँ कि कलाकार अपनी आत्म-प्रेरणा का ही चित्र खींचता है किसी शारीरिक बाह्य आवश्यकता का नहीं। आत्मा की स्वाभाविक प्रेरणा ही सौंदर्य और आनन्द की झलक देकर लोकहित बन जाती है। हम देखते हैं कि कुमार का प्रत्येक पद्य उनके प्राणों का आवेग, हृदय का भाव तथा आत्मा का उच्छ्वास है, अस्तु वह मानवता की मौलिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है।

मेरे वियोग का जीवन।
विस्तृत नभ मे फैला है बन कर तारों का लघु तन

चाहे कुमार की यह सुकुमार सूक्तियाँ हमारे स्थूल जीवन से यथार्थ मेल भले ही न खायँ पर है वह सत्य, चिरन्तन सत्य। आज का प्रत्येक प्रतिभाशाली मानव अपने वर्तमान के साथ अतीत तथा भविष्य की भी चेतना रखता है फिर कवि के लिये तो यह साधारण सी बात है।

साहित्य का काम जीवन के नीरस स्थूल रूप का निरा प्रकटीकरण नहीं वरन् उसकी मनोरम अभिव्यञ्जना है। किसी विचार तथा नीति की स्थापना को लेकर जो काव्य-रचना होगी वह नीरस और अस्थायी अवश्य होगी।

नीचे की इस कविता से यह बात अधिक सपष्ट हो जायेगी—

Forget not, brother singer,
That thogh prose
Can never be too truthfull or too wise,
Song is not truth, not wisdom, but the rose
Upon truth's lips, the light in wisdom's eyes
—*Watson*

हमारे स्वप्नों का चित्र तो नहीं लिया जा सकता और न वे किसी दूसरे रूप में ही दूसरे के समाने रखे जा सकते किन्तु हमारे लिये तो उनका दर्शन है ही, इसी प्रकार कवि के मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन का भी वास्तविक मूल्य है चाहे उसे दुनिया जाने, समझे या नहीं। वास्तव में काव्य भी वही है जिसमें मानवीय भावनाओं की अधिक से अधिक निगूढ अभिव्यक्ति हो। नीचे की सभी पक्तियों में कवि स्थूल जीवन से ऊपर उठकर अपनी आत्म-शक्ति से रस ग्रहण करता है।

कलियो अवगुण्ठन खोलो।
ओस नहीं है, मेरे आँसू
से ही मृदु पद धोलो॥

× × ×

मेरे जीवन के अधरों में
है मेरे सुख की मुस्कान
× × ×
तुम्हें आज पहिचान गया।
मेरे दुख का समय आज जब—
सुख के समय समान गया॥

यह विश्व कण-कण में एक चेतना तथा सौंदर्य का दर्शन है। इन्हीं अपनी भावनाओं के बल से कवि क्षण में चिर को तथा साधारण में असाधारण को देख लेता है और विश्व के मर्मगत सत्य को प्रत्यक्ष कर देता है। कुमार जी ने अपने अन्तर के सत्य का दर्शन अपने आत्म-नेत्रों से कर के संसार को उसे भाषा-रूपी शीशे से दिखाने का सफल प्रयत्न किया है—

छिपा उर में कोई अनजान।
खोज-खोज कर सांस विफल
भीतर आती जाती है,
पुतली के काले बादल में
वर्षा सुख पाती है,
एक वेदना विद्युत सी
खिंच-खिंच कर चुभ जाती है,
एक रागिनी चातक स्वर में
सिहर-सिहर गाती है।
कौन समझे-समझावे गान

यह है आत्म-दर्शन के विश्व-दर्शन का अंश।

आज कुछ लोग इस सुदर अभिव्यञ्जना से ऊब उठे हैं और वे कवि को देश, काल तथा पात्र की सकुचित सीमा में बाँध रखना चाहते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है वरना हमें देखना यह चाहिये कि कवि मनुष्य की किस विशेष आवश्यकता तथा अवस्था का एव भावना का रूप अपनी आत्मा के रस से मिलाकर व्यक्ति से समष्टि रूप में रखता है और जीवन की किस अव्यक्त छाया को किस प्रकार हमारे सामने ला देता है।

एक मनुष्य की भावना दूसरे मनुष्य की भावना से भिन्न नहीं होती, हम उसे चाहे पहिचान भले न पाएँ पर वह सदा से हृदय-हृदय में तरंगित है और काव्य का विषय यही मानव हृदय है। अस्तु एक हृदय की प्रकाशित अनुभूति कभी भी किसी हृदय के लिये असत्य हो ही नहीं सकती है, हाँ कोई बात एक के लिये शीघ्र-बोध तथा सहज-बोध की होती है दूसरे के लिये दुरूह-बोध की, यह उसके साधना तथा अध्ययन पर निर्भर है।

कुमार की कविता में शृंगार का भी सयत पुट मिलता है जिसके कारण हमारी रागात्मक तथा विरागात्मक दोनों प्रवृत्तियों को सन्तोष मिलता है। उनके काव्य में वर्णन और विवेचन दोनों हैं। संसार की सभी वस्तुओं के अनन्त सम्बन्ध को उन्होंने बड़ी सरसता से व्यक्त किया है। उनका यह सम्बन्ध, यह सौन्दर्य-दर्शन केवल मन की कल्पना नहीं है वरन् उनकी अनुभूतियों से प्लावित है।

अन्यथा वे यह पंक्तियाँ कदापि न लिख पाते—

फैला है नीला आकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
फैला है इतना आकाश॥
तुम हो एक साँस सी सुखकर
नभ-मण्डल है एक शरीर।
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है
तुम हो उस यौवन की पीर॥
पथ बतला देना तारक—
दीपक दिखला नवल प्रकाश।
सुरभि तुम्हें उर में भरने को
मैं फैलूँगा बन आकाश।

इस ऊपर की बताई गई कुमारजी की सौंदर्यानुभूति के साथ करुणा का रहना उसी प्रकार अनिवार्य है जैसे शरीर के साथ छाया का रहना। बाह्य जगत हमारे अन्तर जगत में प्रवेश कर एक दूसरी तरह का रूप धारण कर लेता है क्योंकि उसमें हमारी पीड़ा, वेदना तथा आनन्द आदि का सम्मिश्रण हो जाता है।

उस सम्मिश्रण की अभिव्यक्ति जीवन और प्रकृति में एक अस्पष्ट भाव की खोज बन के होती है जिसके कारण स्वभावतः करुणा का उद्रेक होता है। क्योंकि जब मनुष्य अपने प्रियतम आदर्श को अपना नहीं पाता तब उसे एक वेदना का, वियोग का अनुभव होता है।

आत्मा की यह छटपटाहट, विकलता कुमार की कविता में कहीं कहीं बहुत मार्मिक हो उठी है। यद्यपि उनकी यह आकुलता भी अपनी निज की न होकर व्यापक है—

मेरा देखोगे अभिनय ?
प्रिय, देखो मेरे मन में
कितनी पीड़ा कितना भय ?!
कितने जीवन के करता—
आया प्राणों का सञ्चय
पर अभी न हो पाया है
अपने प्रियतम से परिचय

कवि की अपनी विकलता का अविकल परिचय इससे बढ़कर और क्या हो सकता है। परमात्मा के वियोग में यह कवि की आत्मा की पुकार है।

मैं भूल गया यह कठिन राह।
कितने दुख, बनकर विकल साँस
भरते हैं मुझमें बार बार;
वेदना हृदय बन तड़प रही
रह रह कर करती है झंकार,
यह निर्झर मेरे ही समान
किस व्याकुल की है अश्रुधार।

कवि को अपने सुख के साथ संसार के सुख तथा अपने दुख के साथ ससार भर में दुख दीखता है।

इसी का नाम एकरूपता में बहुरूपना-दर्शन है। सौन्दर्य-बोध-जनित अभाव की अवस्था में जिन भावनाओं, पीड़ाओं का उद्रेक होता है उनकी यही दशा होती है।

अन्त में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कुमार का कवि जीवन की आध्यात्मिकता अर्थात् आत्मा को परमात्मा से मिला देने की विकलता से विह्वल है। आत्मा का सम्बन्ध जीवन से है और जीवन सुख-दुख तथा हास्य-रुदन का ही सम्मिश्रण है। अस्तु उनकी काव्याभिव्यक्ति भी हास्य-रुदन तथा सुख दुखमय है।

कुमार की काव्य पुस्तकें हैं अञ्जलि, रूपराशि, चित्ररेखा और चन्द्रकिरण। वे कवि के साथ ही साथ एक सुन्दर गद्यकार तथा आलोचक भी हैं। एकांगी नाटकों में उनका अपना स्थान है हिन्दी साहित्य में छायावादी प्रबन्ध काव्य लिखने का एक श्रेय कुमार जी को भी है।

'अञ्जलि' में कुमार जी वयोचित भावुकता में भूले से लगते हैं अस्तु वह भावना और कल्पना की अञ्जलि है। 'रूपराशि' में कुमार की वही कल्पना वास्तविकता की सीमा छूती सी जान पड़ती है, जान पड़ता है वह एक उस उदासी की तरह कल्पना संसार की ममता रखते हैं जो अपना घर छोड़ के बाहर जाते समय लौट कर फिर फिर अपना घर देखता हो।

'चित्ररेखा' में कुमार के कवि ने अपने मन का संसार पा लिया

है। यहाँ पर अपने कल्पना, साधना तथा अनुभव से एक मंगलमय संसार बसाया है जिसके लिये कुमार की आत्मा उनकी प्रथम रचना से ही व्याकुल सी दीखती है। यही रचना उनकी सर्वोत्तम कृति है। 'चन्द्र किरण' उनकी छोटी छोटी कविताओं का संग्रह है, सौंदर्य-भावना-जनित करुणा का इस में सरस प्रवाह है।

इस प्रकार वे अपनी भाषा, भाव तथा आत्मानुभूति के सहज चित्रण से आज हिन्दी-साहित्य के रहस्यवादी कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। हाँ, अधिकतर रहस्यवादी कवियों की तरह कुमार जी के लिये भी कहा जा सकता है कि—

he current of feeling is deep but narrow.

भगवतीचरण वर्मा

भाव-सौंदर्य के साथ-साथ काव्य में कुछ लोग तथ्य-सौंदर्य एवं रूप-सौंदर्य के भी पुजारी होते हैं। इस प्रकार के कलाकार जिस वस्तु को जैसी देखते हैं उसकी वैसी ही अभिव्यक्ति को कला मानते हैं। इस कला की संज्ञा यथार्थवाद है।

यथार्थवादी कलाकार प्राकृत संसार के व्यक्तियों का चित्र उपस्थित करके उसमें भाव की स्थापना करना चाहते हैं इसीलिये वे संसार की भद्र-अभद्र सभी वस्तुओं की अभिव्यक्ति का कुछ अंशों तक समर्थन करते-से जान पड़ते हैं। वे समाज के लिये सत्यं, शिवं का ध्यान नहीं रखते, उनका सुन्दरम् भर ध्येय रहता है, वह भी उनके मन का।

अस्तु, हम ऐसी कला को भौतिक-आराधना कहें तो अनुचित नहीं होगा। मेरा विचार है कि कला चाहे जिन भावनाओं या सिद्धान्तों को लेकर चले उसे सत्य का हामी तो होना ही चाहिये, क्योंकि इसे तो यथार्यवादी भी मानते हैं कि कला यदि अधिक कुछ नहीं तो अस्ति की प्रतिच्छवि तो है ही। ठीक भी है, क्योंकि—

"The poor should be practical and prosaic"

यथार्थवादी कला की यही स्थिति है क्योंकि यह स्थूल विश्व सुख की अपेक्षा दुख ही का निवास है, अस्तु यहाँ के मनुष्य अपनी

कल्पना से, अपने मन की उमंगों से कुछ क्षण को वास्तविकता से दूर होकर आनन्द उठा लेते हैं पर जो ऐसा भी नहीं करना चाहता है उसके लिये हमें कुछ नहीं कहना है—

The only excuse for making a useless thing is that one admires it intensely.

कला की एक सुकुमार भावना तो यथार्थवाद में भी है वह है आत्म-चेतना और मानव-सौन्दर्य-बोध।

यथार्थवादी कलाकार प्रायः अपने ही में व्यस्त रहता है उसे अपना सुख-दुख, मिलन-वियोग तथा उत्थान-पतन संसार का मापक यन्त्र सा बना रहता है; और यह सभी को विदित है कि व्यक्ति के जीवन में, विशेषकर इस संघर्षमय युग में हास्य की फुलझड़ियों की अपेक्षा रुदन की ही लड़ियों का आधिक्य रहता है। अस्तु निराशा भी स्वाभाविक है। मनुष्य जीवन की जटिल वास्तविकता के बीच में पड़कर कुछ झिझला सा उठता है और यह झिझलाहट उसकी कला में भी व्याप्त रहती है, प्रायः यथार्थवादियों का यही हाल है। कुछ लोग इस स्कूल में ऐसे भी हैं जो यथार्थ जीवन के भी सुन्दर और सहज-सुलभ पहलुओं को तो छूते हैं पर उसकी स्थूल वास्तविकता का समर्थन करते हुये भी स्वयं उससे अलग से रहते हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा निराशा और नश्वरता के विचार-प्रवाह में तो पूरे यथार्थवादी हैं किन्तु सौन्दर्य-प्रियता में उससे कुछ भिन्न। या यों कहा जाय कि जहाँ वे कविता को 'गतिमय गद्य' मानते हैं

वहाँ यथार्थवादी और जहाँ कविता को वे 'बाह्य नहीं वरन् आन्तरिक-सौन्दर्य' की निर्देशिका मानते हैं वहाँ वे कवि हैं। यथार्थवाद और छायावाद दोनों का स्पर्श करने वाले कवि भगवतीचरण वर्मा अकेले ही हैं और इसी नाते कुछ लोग उनका अलग एक स्कूल ही मानते हैं। जो भी हो, हमें उनका छायावादी रूप ही पसन्द है जिसके लिये वे स्वयं कह उठते है—

इस अनन्त का कोई भी कण
मेरे लिये अजान नहीं।
यह न समझना देवि कि मुझको
निज ममत्व का ज्ञान नहीं।

कितनी सुन्दर आत्मचेतना है, ममत्व के प्रति महान ममता है, पर शीघ्र उनका दूसरा रूप एक निराश आत्मा की भाँति पुकार उठता है—

लपटें हों विनाश की जिनमें जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अङ्गारों में झुलस रहा हो विभव विधान।

यह है उनकी अतृप्ति की ज्वाला। इसी प्रकार के निराशा-जनित आवेग से उनकी प्रथम पुस्तक 'मधुकण' की कविताएँ ओत-प्रोत हैं। इधर वर्मा जी ने एक नई पुस्तक 'प्रेम-संगीत' नामक लिखी है उसमें पूरी तरह से प्रेम तथा सौन्दर्य का मनोहारी चित्रण है भाषा भी अधिक मधुर, प्रवाहपूर्ण और बोध-प्रिय है। पता चलता है कि वर्मा जी का कवि यहाँ जागरूक है, गम्भीर है, सौम्य है—

कुछ सुन ले, कुछ अपनी कह लें!
हम-तुम जी-भर खुलकर मिल लें'

जग के उपवन की मधु-श्री
सुषमा का सरस वसंत प्रिये!

दो श्वासों में मिट जाय, और
ये श्वासें बनें अनन्त प्रिये!
मुरझाना है आओ खिल लें।
हम-तुम जी-भर खुलकर मिल लें।

ये पंक्तियाँ बहुत ही सुन्दर हैं, इनमें रस है, प्रवाह है। प्रेम-संगीत उनकी उत्तम कृति है। वर्मा जी पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखते हैं। गद्य में इनकी शैली और भाषा अधिक परिमार्जित और ज़ोरदार है। उनका 'तीन वर्ष' उपन्यास लोकप्रियता में बहुत बढ़ा चढ़ा है मानो उनके पद्यकार पर उनके गद्यकार की विजय दुन्दुभी हो। भगवतीचरण वर्मा हिन्दी-साहित्य में चित्रण और आवेग-पूर्ण कल्पना के लिये चिरस्थायी रहेंगे। उनका गद्य भी साधारण नहीं। इसके साथ-साथ हम उनकी कुछ पक्तियाँ भूल भी जाना चाहेंगे—

यहाँ प्रतिपल, प्रति दिन, प्रतिवार
बहा करती है तप्त बयार।

हमारे जीवन में शोक, सन्ताप तथा निराशा के जगाने वालो की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी की उल्लास और उमंग जगाने

वालों की। कला की सृष्टि अन्धकार के विस्तार के लिये नहीं वरन् आलोक को उद्‌भासित करने के लिये होती है।

साहित्य में ठोस निराशा का बहुत ऊँचा स्थान नहीं है, फिर वह पार्थिव अतृप्ति का फल हो तो और भी अग्राह्य है। क्या ही अच्छा होता यदि हम वर्मा जी के केवल ऐसे ही स्वर सुनते—

मोद से भरी सुखद रस-धार,
प्रथम मधु ऋतु का हास-विलास,
उमङ्गों की स्वच्छन्द बयार,
और कलिका का गंधोच्छ्वास,

× × ×

अलस नयनों में लिये हो
किस विजय का भार रंगिनि!
आज बन्धन बन रहा है
प्यार का उपहार रंगिनि!

अन्त में हम कह सकते हैं कि वर्मा जी के अभिव्यक्ति की व्यञ्जना उनकी अपनी और महत्व की है। ऐसा पता चलता है कि अपने कवि का पालन वर्मा जी ने बहुत ही लाड़-प्यार से किया है वस्तुतः उसमें कुछ मनमौजी पन का आधिक्य है अन्यथा ऐसे कवियों की हिन्दी में बहुत आवश्यकता और जगह है।

हरिवंश राय 'बच्चन'

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, यदि साहित्य या कला को आत्मा का कुसुम कहा जाय, तो उपयुक्त होगा, क्योंकि जिस प्रकार फूल अपने वृक्ष के समस्त रस को अपने अन्दर आकर्षित करके एक नवीन, उज्ज्वल, आह्लादपूर्ण रूप में विकसित होता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य भी मानव-हृदय के समस्त रस को अपने भीतर आकृष्ट करके एक नवीन, उज्ज्वल और आह्लादपूर्ण रूप में प्रफुल्लित हो उठता है। फूल ही की भाँति साहित्य भी मनुष्य के हृदय के मूल रस को छोड़कर कुछ नहीं है।

कविता या कला स्वयं अपने में पूर्ण होती है; पर नई-नई विचार-धाराओं तथा नये-नये हृदयों के भीतर से होकर "यह साहित्य का सनातन स्रोत सदा से नया होकर बह रहा है" क्योंकि साहित्य का विषय है चिर-नवीन मानव-हृदय और चिर-नवीन मानव-चरित्र। इससे यह पता चलता है कि कवि लोग मानव-जीवन की इस चिरन्तन अभिव्यक्ति के वाहक हैं, वे समय-समय पर मनुष्य के भावों को एक अपने ढग से तथा अपने रंग में प्रकट करते हैं, क्योंकि भाव तो मनुष्य मात्र का है; किन्तु उसको विशेष मूर्ति में सब के लिए आनन्द की सामग्री बनाने का काम कवि का है।

इसी कारण देखा जाता है कि सर्वसाधारण की वस्तु को विशेष

रूप से अपना बनाकर उसी उपाय से फिर उसको सर्वसाधारण की वस्तु बना देना एवं अन्दर की वस्तु को बाहर की, भाव की वस्तु को भाषा की, अपनी वस्तु को विश्व-मानव की और क्षणिक वस्तु को चिरन्तन की बना देना साहित्य का काम है। मनुष्य का—विशेषकर कवि का—यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य उपलक्ष्य से दब जाय। आजकल हमारे यहाँ साहित्य में भी इसी लक्ष्यभ्रष्टता का प्रचार हो रहा है। प्रायः लोग दिखावे के लिए संयम और नियम के पीछे पड़कर उसके ढोंग में लिप्त हो जाते हैं। फल यह होता है कि वे और भी अधिक गहरे गड्ढे में जा गिरते हैं, उन्हीं के लिए कवि को कहना पड़ता है:—

घृणा का देते हैं उपदेश,
यहाँ धर्मों के ठेकेदार;
खुला है सबके हित सब काल,
हमारी मधुशाला का द्वार।

इसी प्रकार की अन्य कितनी ही पंक्तियाँ 'मधुशाला' के कवि ने लिखी और गाई हैं। उसकी ऐसी ही पंक्तियों को पढ़कर हिन्दी-संसार एक विचित्र उलझन में पड़ गया है, और ऐसा होना भी स्वाभाविक है, "क्योंकि इस गंगाजलपायी देश में अंगूरी मदिरा का नाम बार-बार लेनेवाले का विरोध न होना ही आश्चर्य की बात होती।" मदिरा तथा प्याले के संकेतों से जीवन के गम्भीर आध्यात्मिक तथ्यों तथा सत्यों को समझाना फारसी और उर्दू के कवियों के लिए तो बहुत पुरानी बात है, किन्तु हिन्दी के लिए यह नया अवश्य है।

उनकी इस प्रकार की प्रथम रचना है 'खय्याम की मधुशाला'।' यह मूल-ग्रन्थ फारसी में है। अंग्रेज़ी में भी इसके कई अनुवाद हैं। बचनजी ने इसका अंग्रेज़ी रूपान्तर से हिन्दी में भाषान्तर किया है। किसी दूसरी भाषा की कविता को अपनी भाषा में उसी ढग से' सजाकर जनता के सामने रखना बड़ी चतुरता का काम है। अनुवाद में शब्द-प्रति शब्द रख देना दूसरी बात है और उसमें सजीवता लाना दूसरी बात। बचन शब्दों के पीछे नहीं भटके, बल्कि उन्होंने भावों की अतल गहराई में घुसने का प्रयत्न किया है, जैसे जहाँ फिट्ज़जेरल्ड ने "Like wind I came and like water I go", वहाँ अन्य अनुवादकों की तरह बचन ने हवा और पानी का प्रयोग न करके—

"लिये आया था अश्रु-प्रवाह,
छोड़ता जाता हूँ उच्छ्वास।"

कहा है, जो मूल से भी अधिक उपयुक्त और मर्मस्पर्शी है।' अनुवाद का छन्द मधुर और भाषा-प्रवाह पूर्ण है। बचन जी का यह अनुवाद सफल हुआ है।

कविता कवि की आत्मा है, वह शरीर नहीं है। शरीर को रूप प्रदान किया जा सकता है, आत्मा को नहीं; वह तो अमूर्त है, रस मात्र है। फिर खय्याम तो एक दार्शनिक कवि थे, उनकी कविता का नश्वर शरीर से क्या सम्बन्ध? वह तो पूर्णतः आत्म-निमज्जित है; उसके रसास्वादन के लिये सुयोग्य अधिकारी चाहिए। जिस तरह दम्भियों द्वारा धर्म की विडम्बना हो सकती है, उसी प्रकार अनधि-

कारियों द्वारा किसी सत्काव्य की भी। खय्याम की कविता का सजीव और सफल अनुवाद सरसतापूर्वक करना बच्चन की प्रतिभा का पूर्ण प्रमाण है। हमें उनकी ये पंक्तियाँ बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं :—

प्रफुल्लित जब तक पाटल-वृन्द
सरित का सुनकर कल-कल गान,
बैठकर, प्रेयसि, मेरी गोद
करो मायिक मदिरा का पान।
गरल का प्याला ले यमदूत
तुम्हारे आ जाए जब पास,
उसे भी ले, कर जाना पान,
न होना विचलित और उदास।

उनकी दूसरी पुस्तक है 'मधुशाला'। यह एक मौलिक रचना है, जिसका परिचय स्वयं कवि ने इस प्रकार दिया है :—

भावुकता-अंगूर-लता से खींच कल्पना की हाला;
कवि बनकर है साक़ी आया, भरकर कविता का प्याला।
कभी न कण भर खाली होगा, लाख पिये दो लाख पिये;
पाठकगण हैं पीनेवाले, पुस्तक मेरी मधुशाला।

इस पुस्तक के नाम से ही घबरानेवालों के लिए आगे चलकर कवि ने बड़ी सुंदर गर्वोक्ति की है :—

बिना पिये जो मधुशाला को बुरा कहे, वह मतवाला,
पी लेने पर तो आयेगा पड़ उसके मुँह पर ताला।

दास द्रोहियों दोनों में है जीत सुरा की, प्याले की,
विश्व-विजयिनी बनकर जग में आई मेरी मधुशाला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चन हृदय के यौवन की अनोखी मस्ती लेकर हिन्दी में उतरे हैं, और अपनी इस स्वाभाविक मस्ती के झुकाव में जो गीत वे सुना रहे हैं, उनका अनोखापन आज साहित्य में विवाद की वस्तु बन रहा है। यह अनहोनी बात नहीं विवाद से परे बच्चनजी की कविता एक नई दिशा की ओर संकेत कर रही है। उसमें हिन्दी का पुरानापन नहीं है, यही कारण है कि वे इस विवाद के बीच में भी अपने नये प्रवाह को लेकर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सके हैं। 'मधुशाला' की कविता में "वेपिये नशावाली जवानी" की मधुरता है, और आरम्भ से अन्त तक कवि एक ऐसे प्रवाह में गाता चला जाता है कि आप कहीं भी रुकने का नाम न लेंगे। आदि से अन्त तक एक तड़प है। मालूम होता है, कवि के छन्दों में कवि की वेदना और भावुकता सजीव हो उठी है; किन्तु वह एक ऐसे प्राणी की भाँति है, जिसकी अवस्था कुछ ऐसी हो कि वह एक अमिट प्यास से विकल होकर भरे हुए प्यालों को देख रहा हो; मगर उन तक पहुँचने के लिए उसके हाथ बँधे हुए हों :—

शान्त हो सकी अब तक साक़ी, पीकर किस उर की ज्वाला;
'और' 'और' की रटन लगाता जाता हर पीनेवाला।
कितनी इच्छाएँ हर जानेवाला छोड़ यहाँ जाता,
कितनी अरमानों को बनकर क़ब्र खड़ी है मधुशाला।

फिर भी—

प्यार नहीं पा जाने में है पाने के अरमानों में,
पा जाता तब हाय ! न इतनी प्यारी लगती मधुशाला।

× × ×

मतवालों की जिह्वा से हैं कभी निकलते शाप नहीं,
दुखी बनाया जिसने मुझको सुखी रहे वह मधुशाला।

इस कवि की दार्शनिकता में क्लिष्ट कल्पना नहीं है। भाषा-प्रवाह देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है, उसमें इतना संयम, स्पन्दन और सरलता है कि वह अपने-आप मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। कवि के लिए कहीं रसाल-तरु-शाखा साकी-सी है, तो कहीं उसकी मदिर मंजरी की सुरभि हाला है; कहीं अनिल साकी है, तो कहीं पुष्पोच्छ्वास हाला है; और कहीं अकेली ऊषा साकी है, जो धरा पर प्रेम-किरणों की हाला-सी उड़ेल रही है। इस प्रकार कवि विश्व-जीवन के चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द देख रहा है। वह अपने पार्थिव शरीर में ही सीमित नहीं है, उसका असीम आनन्द ही उसकी अक्षय मस्ती है।

पर इस निखिल जगव्यापी सृष्टि के भीतर कवि का सुकोमल हृदय किस स्थल पर जाकर, चोट खाकर, वेदना से विह्वल होकर रोदन और हाहाकार कर उठता है, उसे भी देखिये :—

सुमुखि ! तुम्हारा सुन्दर मुख ही मानिक मदिरा का प्याला,
छलक रही है जिसमें छल-छल रूप-मधुर मादक हाला।

मैं ही साकी बनता, मैं ही पीनेवाला बनता हूँ,
जहाँ कहीं मिल बैठे हम-तुम वहीं गई हो मधुशाला।

किन्तु—

किस्मत में था खाली खप्पर, खोज रहा था मैं प्याला;
ढूँढ़ रहा था मैं मृगनयनी, किस्मत में थी मृगछाला।
किसने अपना भाग्य समझने में मुझ-सा धोखा खाया?
किस्मत में था अवघट-मरघट ढूँढ़ रहा था मधुशाला।"

इस उलझन और सीमाबद्ध ऐन्द्रिक जगत की तड़पन में आत्मानन्द की अनुभूति भला कब हो सकती है? अतएव आनन्द के आध्यात्मिक शिखर से इस पार्थिव जीवन को देखकर कवि ने जिस निष्फल माया को देखा, उसके प्रति उसे असन्तोष क्यों न हो? लौकिक उन्माद तो अन्तस्तल की महान पुकार के मृदुतम स्वराघात से ही क्षणभंगुर हो जाने वाला है। ऐसी है बच्चन की उज्ज्वल भावना। ऐसे भावनाशील कवि के प्रति इस दुनिया की नाराज़ी क्यों? जो हो, 'मधुशाला' सचमुच अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है। उसके कवि के शब्दों में—कवि का हृदय केवल कवि-हृदय नहीं, उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दुधमुँही बालिका की भाँति क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है। उसका हृदयागन गगन के गान, समीरण के हास्य और सागर के रुदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है, उसके हृदय-मन्दिर में जीवन-मरण अविरत गति से नृत्य किया करते हैं। अतएव कवि के हृदय के गलने के कारण आज

उन्मत्त विश्व मादक हाला से परिप्लावित हो उठा है। जल और थल, गगन और पवन, सिन्धु और बुलबुला, स्वर्ग और नर्क, जड़ और चेतन, निशा और दिवस, बन और उद्यान, नर और नारि, मिलन और विरह, जन्म और जीवन, हास और क्रन्दन—सभी वस्तुएँ आज हाला, प्याला, मधुशालामय आनन्दित हो रही हैं।"

कवि के इस दृष्टिकोण से मधु और मधुशाला की महिमा सुस्पष्ट हो गई है।

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा,
सृष्टि के प्रारम्भ में
मैंने उषा के गाल चूमे।
बाल रवि के भाग्यवाले
दीप्त भाल विशाल चूमे,
प्रथम संध्या के अरुण दृग
चूमकर मैंने सुलाये।
तारिका कलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे
वायु के रसमय अधर
पहिले सके छू होंठ मेरे।
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा।

कितनी महत्व की सफाई है। यदि इतने पर भी कोई कुकल्पना

समझे, तो किसका दोष है ? चाहे हालावाद हो, चाहे छायावाद, चाहे रहस्यवाद, कविता में सर्वत्र भाव-प्रधान माना गया है । यदि किसी कविता में भाव का मनोरम मधुरिमामय सामजस्य हो, तो वह सदैव आदरणीय है, क्योंकि काव्य को हमें रस ग्रहण के लिए देखना चाहिए, भावमय चित्रों के लिए अपनाना चाहिए, उससे धर्मशास्त्र की आशा न रखनी चाहिए । 'मधुशाला' का कवि तो अपने ही हृदय-पथ से ही अपने लक्ष्य की ओर विश्वासपूर्वक चलता है:—

मदिरालय जाने को घर से, चलता है पीनेवाला,
किस पथ से जाऊँ असमंजस में है वह भोलाभाला ।
अलग-अलग पथ बतलाते सब, पर मैं यह बतलाता हूँ,
राह पकड़ तू एक चला चल पा जायेगा मधुशाला ।

सासारिक माया-मोह में भटकने वाले मानवों के लिए कितना मधुर आश्वासन है । आप जिस रस में इसे ढाल लें, उसी रस में यह सरस लगेगा ।

बच्चन की तीसरी पुस्तक है 'मधुबाला' । इसमें उनके जो मधुर गीत सगृहीत हैं, उनसे कवि के हृदय की सचाई और निश्छल सरलता छलकी पड़ती है । पाँच पुकार की प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ पढ़िये ।

गूँजी मदिरालय भर में,
लो, 'पियो-पियो' की बोली

× × ×

गूँजी मदिरालय भर में
लो, 'चलो-चलो' की बोली ।

पार्थिव जगत की इस निराश वेदना का यह संकेत बड़ा ही करुण और मार्मिक है। जीवन के इस महत्त्वपूर्ण संकेत का जो उचित आदर और उपयोग नहीं कर पाते, उनका जीवन व्यर्थ है; पर जो इसकी तत्त्वमयी मार्मिक वास्तविकता का अनुभव करते हुए इसे जीवन की प्रेरणाशक्ति के रूप में ग्रहण कर लेते हैं और जो इस बात को जान लेते हैं कि निर्लिप्त जीवन ही मानव-हृदय की सबसे उत्तम और मँहगी वस्तु है, वे ही उसको सम्पूर्ण सचाई के साथ अपनाकर मानव-जगत में शोभन हो जाते हैं। जीवन की सम्पूर्ण चहल-पहल का निष्कर्ष है प्रेम—केवल प्रेम। वही इस नश्वर जग में अविनश्वर है। मनुष्य के जीवन में प्रेम का जितना ही अधिक रस भरा रहता है, उसमें उतने ही अधिक शीतल सन्ताप की, मधुर वेदना की, मादक विषाद की सृष्टि रहती है, जो उसे लोक-यात्रा में प्रगति प्रदान करती है। इसीलिए कवि कहता है :—

मैं जग जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ।
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छूकर
मैं साँसों के दो तार लिये फिरता हूँ।

मनुष्य होने के नाते कवि मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति रखता है और पीड़ाओं को इतना प्यार करने लगता है कि उसे अपनी स्थिति के परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, वह गा उठता है:—

हो नियति इच्छा तुम्हारी
पूर्ण, मैं चलता चलूँगा
मिल सभी पथ एक होंगे
तम घिरे यम के नगर में
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में।

बच्चन को हम सदैव अपने प्रति सच्चा पाते हैं, यही कारण है कि उनकी कविता में कभी आशा और कभी निराशा, कभी हास्य और कभी रुदन, कभी आत्म-अविश्वास देखते हैं, और वे बोल उठते हैं:—

बूझ दुनिया यह पहेली
जान कुछ मुझको सकेगी।
हो चुकेगा किन्तु इसके
पूर्व ही अवसान मेरा।

इतने पर भी—

लौट आया यदि वहाँ से
तो यहाँ नवयुग लगेगा
नव प्रभाती गान सुनकर
भाग्य जगती का जगेगा
शुष्क जगती शीघ्र बदलेगी
सरस चैतन्यता में

यदि न पाया लौट मुझको
लाभ जीवन का मिलेगा
पर पहुँच ही यदि न पाया
व्यर्थ क्या प्रस्थान होगा
कर सकूँगा विश्व में फिर—
भी नये पथ का प्रदर्शन
तीरपर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमन्त्रण।

ह है कवि बच्चन की एक झाँकी।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है; उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा तर्क का स्थान नहीं, उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झकारों से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। ऊँची कला के भीतर किसी विशेष तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य-देवी के मन्दिर में केवल पत्थर टटोलना है।

'वही पग-ध्वनित मेरी पहिचानी" में निस्सन्देह बच्चन की मास्टर पीस कविता है। और हिन्दी-साहित्य की एक श्रेष्ठ कृति है। एक बात और। बच्चन जी कवि तो हैं ही, कवित्व उनमें स्वाभाविक है, किन्तु उनका क्षेत्र सकुन्चित और भावों मे पुनरुक्ति-पूर्ण है, अशत: उनकी कविता मे एक रसता आ गई है।

बच्चन का अब तक आवश्यकता से अधिक विरोध किया गया है; किन्तु बच्चन इस विरोध में उलझे नहीं, बल्कि इस विरोध से भी

उन्होंने अपने कवित्व के लिए शक्ति ग्रहण की, रूखे-सूखे वादविवा
को भी उन्होंने अपने मधुर संगीत में बहा दिया:—

करे कोई निन्दा दिन-रात
सुयश का पीटे कोई ढोल;
किये कानों को अपने बन्द
रही बुलबुल डालों पर बोल।

वे अपने किसी विरोधी के लिए कभी तीक्ष्ण नहीं हो
केवल इतना ही पुकार उठते हैं:—

वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?